वर्ष ४५] * * * [अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, दिसम्बर १९७१

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण
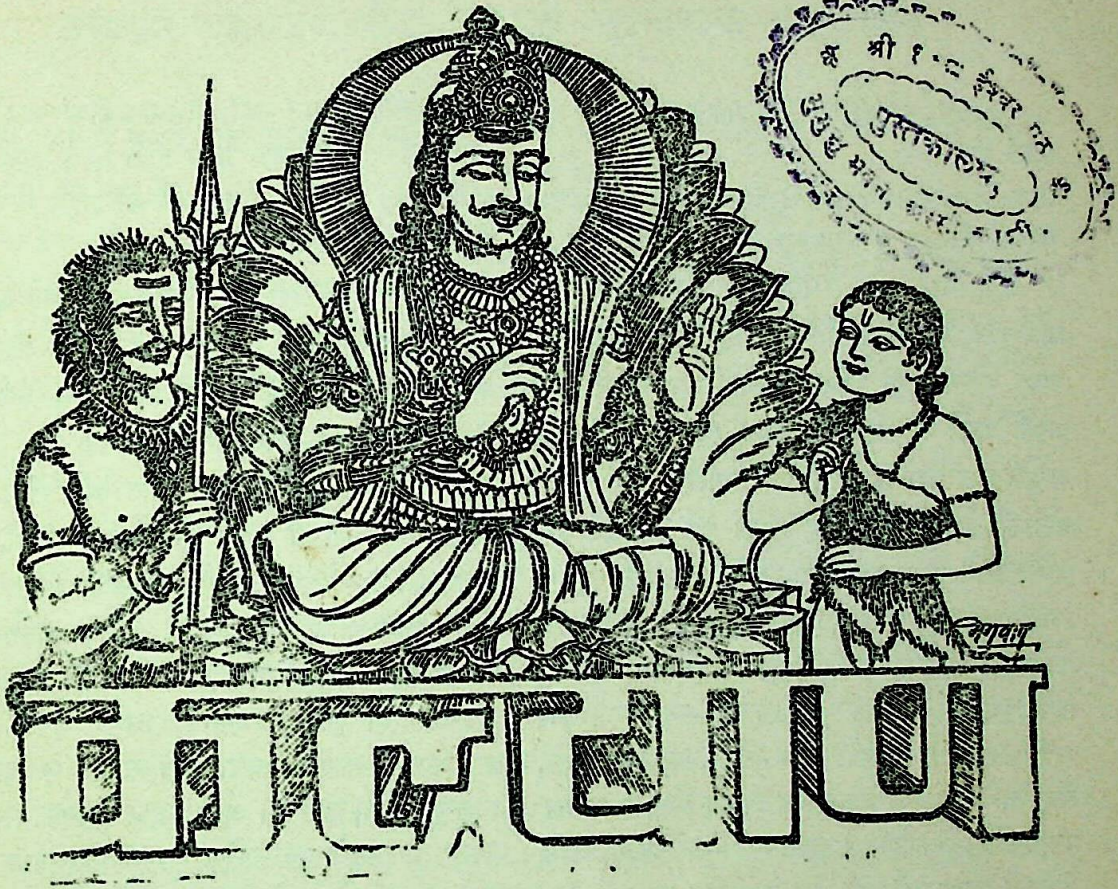
अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, दिसम्बर १९७१ { संख्या १२ पूर्ण संख्या ५४१

भगवान् श्रीयदुनन्दनकी वन्दना

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

नीलकमलदलके समान श्यामवर्ण, लक्ष्मीको आनन्द देनेवाले और प्रणतजनोंके लिये कल्पवृक्षके समान भगवान् यदुनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ।

भगवान् शंकराचार्य 'चर्पटपञ्जरिका' (१) में कहते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः·····················॥

दिन बीत गया, संध्या हुई, रात आयी, फिर प्रातःकाल हो गया; शिशिर ऋतु गयी, वसन्त आ गया; वसन्त गया, हेमन्त आया—इस प्रकार काल अपनी क्रीडा कर रहा है—खेल रहा है और हमारे आयुके दिन बीत रहे हैं। एक व्यक्तिके पास निश्चित थोड़ी-सी पूँजी है और वह समाप्त हुई जा रही है। आगेके लिये उसका कोई ध्यान नहीं है; उसका भविष्य अन्धकारमय है। ठीक यही दशा हमारी है, जो भगवान्‌की तरफ न लगकर संसारके प्रपञ्चोंमें ही रचे-पचे रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं—मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। पता नहीं काल किस समय, किस हेतुसे, किस निमित्तसे, क्या बनकर आ जायगा और हमारा यह जीवन समाप्त हो जायगा। इसलिये जैसे-कैसे भी हो, अपने जीवनको भगवान्‌की ओर मोड़ देना बहुत आवश्यक है।

हमारे वर्तमान जीवनमें परिवर्तनकी आवश्यकता है; क्योंकि इस जीवनकी समाप्तिपर—मनुष्य-देह मिलनेसे भगवान्‌को पानेका जो अवसर हाथमें आया है, उसके निकल जानेपर पश्चात्तापके सिवा कुछ नहीं रह जायगा। इसलिये जीवन रहते थोड़ा-बहुत ही—जिससे जितना हो सके, उतना ही—जीवनको भगवान्‌की ओर लगानेका प्रयत्न करना चाहिये और वह होना चाहिये असली मनसे। भूखा व्यक्ति रोटी प्राप्त करनेके लिये स्वयमेव मनसे चेष्टा करता है। उसके इस प्रयत्नमें कहीं दिखावट नहीं होती; क्योंकि उसे भूख लगी है। प्यासे व्यक्तिको निरन्तर जलका स्मरण बना रहता है और जल-प्राप्तिकी वह चेष्टा करता है; क्योंकि जलके बिना उससे रहा नहीं जा रहा है, प्यास उसे बेचैन किये हुए है। उसके जल-प्राप्तिके प्रयत्नमें कोई दिखावट नहीं, प्रशंसा-प्राप्तिका भाव नहीं, सच्चे मनसे उसका यह प्रयत्न होता है। ठीक इसी प्रकार सच्चे मनसे—अन्तर्हृदयसे भगवान्‌के लिये हम लोगोंको सचेष्ट होना चाहिये।

दुनियामें रहकर घर-बाहरके काम करने पड़ते हैं और सब करने ही चाहिये। वे छूट नहीं सकते, छोड़नेकी बात कहना ही व्यर्थ है। पर उनपर एक नियन्त्रण तो हो सकता है—जितनी आवश्यकता हो, उतना उनमें मन लगे, उतना उनमें समय लगे, उतना ही प्रयास उनके लिये हो। शेष मनकी सारी वृत्तियाँ, शेष सारा समय और शेष सारे प्रयास केवल भगवान्‌के लिये हों। समझमें आ जानेपर तो घरके, शरीरके, आजीविका-के सारे काम भी भगवान्‌की सेवा बन सकते हैं। पर जबतक ऐसी वृत्ति न बने, तबतक घरके, शरीरके, आजीविकाके कार्योंसे बचा हुआ समय एवं वृत्तियाँ भगवान्‌में लगनी चाहिये। आगे चलकर जीवनका सम्पर्क एकमात्र भगवान्‌से जुड़ जानेपर हम जो कुछ भी करेंगे, वह भगवान्‌की सेवा ही होगी। जैसे पतिव्रता स्त्रीके जीवनके सारे काम केवल पतिके लिये होते हैं—उसका कपड़े पहनना, शृङ्गार करना, खाना, पीना, सोना—सब-के-सब पतिके लिये होते हैं, अपने लिये नहीं। इसी प्रकार यदि हम अपने जीवनको भगवान्‌के अर्पित कर दें, उसे भगवान्‌का बना दें तो जीवनका प्रत्येक छोटा-बड़ा कार्य भगवान्‌के लिये हो सकता है। फिर तो दिनभर भगवान्‌की पूजा होती है। इसके लिये हम आज इसी क्षणसे प्रयत्न करें और भगवान्‌को जीवनकी एक आवश्यकता बना लें। इतना कर लिया तो मानव-जीवन सफल है, अन्यथा—

'सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन
जनमत जगत जननि-दुख लागी।'
(विनयपत्रिका, १४० । ३)

—की भाँति हमारी गति होनी निश्चित है।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

अपना आदर्श सबसे ऊँचा रखना चाहिये ।

जगत्में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज एवं तम । प्रत्येक व्यक्तिमें ये गुण रहते हैं । हाँ, किसीमें सत्त्वकी प्रधानता रहती है, किसीमें रजकी और किसीमें तमकी । इसी प्रकार एक व्यक्तिके भाव भी सदा एक-से नहीं रहते । उसमें भी समय-समयपर कभी किसी गुणका प्राधान्य हो जाता है और कभी किसी गुणका । जब सत्त्वका प्राधान्य रहता है, उस समय व्यक्तिकी चेष्टाएँ शान्त, निर्मल, पवित्र रहती हैं; जिस समय रजोगुणका प्राधान्य रहता है, वही व्यक्ति उस समय चञ्चल एवं उग्र होता है तथा जिस समय तमोगुणका प्राधान्य रहता है, उस समय वह प्रमादी, आलसी एवं पाप-परायण रहता है । गुणोंके इस तारतम्यको विचारकर हमें अपनी क्रियाओं-पर नियन्त्रण करना चाहिये । जिस समय किसी विषय-पर परस्पर विवाद होने लगे, उस समय हमें शान्त रहना चाहिये । अपनी बातपर दृढ़ रहते हुए भी उसपर अड़ना नहीं चाहिये । संसारमें अनेक मत-मतान्तर हैं और प्रत्येक अपने मतको सही समझता है । ऐसी स्थितिमें अपने मतपर ही दृढ़ रहकर अपनी बातकी ही पुष्टि करते नहीं रहना चाहिये । यदि कोई पूछे तो आप उसे प्रेमके साथ जो बात जँचे, वह कहिये; पर यदि वह उसे स्वीकार न करे तो जिद मत कीजिये कि वह आपकी बात मान ही ले । उस प्रसङ्गको वहीं समाप्त कर देना चाहिये, आगे नहीं बढ़ने देना चाहिये । आगे बढ़नेसे वृत्तियोंमें उत्तेजना आ सकती है । उत्तेजना आनेसे व्यवहार एवं साधना—दोनोंकी दृष्टिसे हानि होती है । उसका प्रभाव भी दूसरे व्यक्तियों-पर अच्छा नहीं पड़ता । अतएव अपने आदर्शको सबसे ऊँचा रखना चाहिये । शुकदेव, जनक आदि आदर्श पुरुषोंको आदर्श मानकर हमें उनकी तरह बननेका प्रयत्न करना चाहिये ।

(२)

भगवान् रामको अपना आदर्श बनाना चाहिये ।

भगवान् राम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' हैं । अतएव हम उनको भी आदर्श मानकर चल सकते हैं । मेरे विचारसे तो जो गृहस्थ हैं, उन्हें भगवान् रामको ही अपना आदर्श बनाना चाहिये तथा स्त्रियोंको भगवती सीताको अपना आदर्श बनाकर चलना चाहिये । चलना, बोलना, बैठना, सोना आदि व्यवहार भगवान् रामके जीवनको समक्ष रखकर करने चाहिये । माता-पिता, गुरु, भाई, मित्र-सखा, सहचर-दास आदिके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह भगवान् रामके जीवनसे सीखना चाहिये । उदाहरणके लिये जो हमसे बड़े हैं, पर वे हमारी सेवामें हैं, तो उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसको हम भगवान् रामके जीवनमें देखें-समझें । राम युवराज हैं और सुमन्त्र उनकी सेवामें हैं; पर सुमन्त्र अवस्थामें बड़े हैं, अतः राम उनका पिताके समान आदर करते हैं । रामके मनमें यह बात नहीं आती कि 'ये हमारे सेवक हैं, हम इन्हें पिताके समान आदर क्यों दें ।' इस आदर्शको समक्ष रखकर हमें चाहिये कि जो हमारे सेवक होते हुए भी आयुमें हमसे बड़े हैं, हम उनके प्रति आदरभाव रखें, छोटेपनका भाव नहीं ।

राजा दशरथ रामको बुलाना चाहते हैं । सुमन्त्र रामके पास जाकर कहते हैं—'पिताजी आपको देखना चाहते हैं ।' उन्होंने पिताकी बातको 'आज्ञा' के रूपमें नहीं कहा, केवल पिताकी इच्छा व्यक्त कर दी । राम भी आदर्श पितृभक्त हैं । 'पिताजी मुझे देखना चाहते हैं'—यह सुनते ही वे नंगे पैर ही पिताके पास दौड़े

जाते हैं। भगवान्की तरह ही हमें भी पिताकी बातका आदर करना चाहिये। जीवनमें जितने भी सम्बन्ध एवं व्यवहार हो सकते हैं, वे सभी भगवान् रामके जीवनमें उपलब्ध होते हैं। हमलोगोंको चाहिये कि हम प्रत्येक व्यवहार भगवान् रामके व्यवहारको सामने रखकर करें। यदि हम यों करनेमें सफल हुए तो हमारा मानव-जीवन सफल हो जायगा।

(३)

माता-पिताके आज्ञा-पालनके सम्बन्धमें चार बातें।

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि 'जब माता-पिता हमें कहें कि सत्सङ्ग-भजन नहीं करना चाहिये, तब हमें उनकी आज्ञा माननी चाहिये कि नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि आज्ञा मानने, न माननेके सम्बन्धमें चार बातें हैं। परिस्थितिके अनुसार इन चार बातोंमेंसे किसी एक बातको अपने लिये चुन लेना चाहिये। चार बातें ये हैं—

(१) आज्ञा मिलते ही तुरंत उसका पालन कर देना;

(२) आज्ञाका पालन नहीं करना और विरोध कर देना;

(३) आज्ञाको सुनकर उसपर विचार करना कि इसके अनुसार करना चाहिये कि नहीं। आज्ञा-पालनमें जल्दबाजी नहीं करनी;

(४) आज्ञा मिलनेपर चुप रहना, उत्तर न देना तथा आज्ञाका पालन भी नहीं करना।

ये चारों बातें दृष्टान्तके द्वारा नीचे समझायी जाती हैं।

(१) परशुरामजीको पिताने आज्ञा दी कि 'तू अपनी माँको मार डाल' और उन्होंने माँका सिर तुरंत उतार डाला। परशुरामजीने माँका सिर उतार दिया तो पिताजी प्रसन्न हो गये। पिताने कहा—'बेटा ! मैं प्रसन्न हूँ, तू वरदान माँग।' परशुरामजीने कहा—'पिताजी ! मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी माँको जिला दें और माँको यह स्मरण भी न रहे कि मैंने उनका सिर काट लिया था; क्योंकि यदि माँको इस घटनाकी स्मृति रहेगी तो उसका स्वाभाविक प्यार मुझे प्राप्त नहीं होगा।' पिताने परशुरामजीकी बात स्वीकार कर ली और उनकी माता जीवित हो गयीं। इस प्रकार माँकी हानि भी नहीं हुई और पिताकी आज्ञाका पालन हो गया। परशुरामजी जानते थे कि पिताजीमें माँको जिलानेकी शक्ति है। इसलिये उन्होंने माँको मार दिया तथा पिताजीको प्रसन्न करके माँको जीवित कर लिया। इसी प्रकार यदि हमें विश्वास हो कि हम जिनकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं, उनमें ऐसी शक्ति है कि यदि उस आज्ञाके पालनसे किसीकी हानि हुई तो वे उसे ठीक कर देंगे तो हमें उनकी आज्ञाका पालन तुरंत कर देना चाहिये।

(२) जहाँ हमें लगे कि इस आज्ञाका पालन करना धर्म-विरुद्ध है, इसके पालनसे हमारा तथा आज्ञा देनेवालेका—दोनोंका अहित है, वहाँ हमें उस आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये। भरतजीका उदाहरण इस विषयमें आदर्श है। राजा दशरथ भरतके नाम राज्य करके महाप्रयाण कर गये, गुरुजीने भरतको राज्यभार सँभालनेके लिये कहा, प्रजाने कहा, माताकी भी आज्ञा थी; पर भरतजीने सबकी बातको टाल दिया, किसीकी भी आज्ञाका पालन नहीं किया और राज्यको गेंदकी तरह ठुकरा दिया। भरतको यह स्पष्ट दीख रहा था कि 'मुझे यह राज्य अन्यायपूर्वक दिया जा रहा है।' अतएव उन्होंने उसका त्याग कर दिया। हम भी इसी प्रकार अपने स्वार्थत्यागके लिये अपनेसे बड़ोंकी आज्ञाका विरोध कर सकते हैं। पर गुरुजनोंकी आज्ञाका विरोध करनेमें एक बात समझ लेनेकी है कि अनुचित भोगका त्याग अवश्य करना चाहिये; पर जहाँ उचित भोगकी

बात हो वहाँ कभी-कभी गुरुजनोंकी बात मान लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ, गुरुजन कहें कि 'तुम्हें अमुक चीज खानी चाहिये।' यदि वह चीज अशुद्ध न हो, हानिकर न हो तो हमें उसके लिये जिदपर अड़कर उनकी बातको टालना नहीं चाहिये। पर यदि गुरुजन हमें सत्सङ्ग-भजनके लिये रोकें तो हमें उनका विरोध कर देना चाहिये और उनकी आज्ञा नहीं माननी चाहिये। हाँ, यदि उनका विशेष विरोध हो तो हमें सत्सङ्ग-भजन गुप्त रीतिसे करना चाहिये। पर साथ ही हमें अपने गुरुजनोंके प्रति अनादरका भाव नहीं लाना चाहिये। हमें यह नहीं समझना चाहिये कि वे लोग हिरण्यकशिपु हैं और हम भक्त प्रह्लाद हैं। सारांश यह है कि परमार्थके कामको हमें छिपाकर तथा दूसरोंपर दोष-दृष्टि न रखकर करना चाहिये।

(३) गुरुजनोंकी आज्ञा प्राप्त होते ही उसपर विचार करना कि इसके पालनमें किसीका अहित तो नहीं है। खूब सोच-विचार कर लेनेपर जब यह निश्चय हो जाय कि यह आज्ञा निर्दोष है, तब उसका पालन करना। गौतम ऋषिकी धर्मपत्नी अहल्याका शीलव्रत इन्द्रने हरण कर लिया। ऋषिको इसका पता चला तो वे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने पुत्र चिरकारीसे कहा—'तुम अपनी माँका सिर धड़से अलग कर दो।' ऋषि पुत्रको आज्ञा देकर वनकी ओर चले गये। पुत्र विचारमें पड़ गया कि पिताकी इस आज्ञाका पालन करना उचित है कि अनुचित। वह वहीं खड़ा-खड़ा इसपर विचार करता रहा। काफी समय बीत गया। उसने न तो माँका वध किया और न तलवार ही हाथसे छोड़ी; क्योंकि यदि तलवार हाथसे छोड़ देता है तो पिताकी आज्ञा भङ्ग होती है। उधर कुछ दूर जानेपर ऋषिका क्रोध शान्त हुआ और उनका विवेक जगा कि पत्नी निर्दोष है, इन्द्रने उसके साथ छल किया है; अत उसका वध करवाना अनुचित है। ऐसा विचार आते ही वे घरकी ओर चल दिये कि कदाचित् पुत्रने अभीतक मेरी आज्ञाके अनुसार अपनी माँका वध न किया हो तो उसे रोक दूँ। भगवान्‌की कृपासे पुत्र अभी विचारमग्न ही था। ऋषिने पहुँचते ही देखा कि पुत्र अभी विचारमग्न है, उसने अपनी माँका वध नहीं किया है! ऋषि पुत्रपर प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपनी आज्ञा वापस ले ली और कहा—"पुत्र! तुमने बहुत ठीक किया। अनुचित आज्ञाको बिना विचार किये कभी नहीं मानना चाहिये। आजसे तुम्हारा नाम 'चिरकारी' होगा।" इस प्रकार पुत्रने पिताकी आज्ञा मान ली और माँको भी बचा लिया। ऐसे अवसरोंपर हमें भी गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेमें खूब विचार करना चाहिये।

(४) भक्त प्रह्लादको पिताने भगवान्‌का भजन न करनेकी आज्ञा दी, माँने भी कहा, पर प्रह्लादने न तो माता-पिताको इसका उत्तर दिया और न उनकी आज्ञाका पालन ही किया। वे चुपचाप अपने कर्तव्यमें लगे रहे। ऐसे मौकोंपर हमें भी इस नीतिका पालन करना चाहिये। माता-पिता यदि सत्सङ्ग-भजनके लिये मना करें तो उनके साथ तर्क-वितर्क न करके चुपचाप अपने साधनमें लगे रहना चाहिये। यदि हम सचाईके साथ अपने साधनमें लगे रहेंगे तो उसका प्रभाव माता-पितापर अवश्य होगा और थोड़े दिनोंमें वे हमारा समर्थन करने लग जायँगे। पर यदि हम आरम्भमें ही उनकी बातका विरोध करने लग जायँगे उनसे तर्क-वितर्क करके झगड़ा करने लग जायँगे तो काम बिगड़ जायगा। माता-पिताका अपमान होगा और साधन भी ठीकसे नहीं हो पायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों बातोंपर ठीकसे विचार करके अपने गुरुजनोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। व्यवहारमें भाव मुख्य है, क्रिया गौण है। यदि हमारे मनमें अपने गुरुजनोंके प्रति आदर-भाव है तो देर-सबेर हमारे भावका प्रभाव गुरुजनोंपर पड़ेगा ही और वे हमारी सचाईको स्वीकार करेंगे ही। भगवान्‌के भजन-साधन करनेमें किसीसे विरोध न लेकर चुपचाप लगे रहना चाहिये।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

निर्मल प्रेमका अर्थ है—'वह प्रेम जिसमें अनन्यता हो, केवल प्रभुके सुखकी इच्छा हो तथा शरीर-सुख अथवा लोक-परलोकके भोगोंकी कोई भी वासना न हो। सुख और दुःख—दोनों ही प्रभुके सुखार्थ ही स्वीकार किये जायँ, संयोग और वियोग—दोनोंमें ही प्रभुके सुखको देखकर आत्यन्तिक आनन्दकी अनुभूति हो। मलिन वासनाओंकी तो कहीं गन्ध भी न रहे। प्रभुके समर्पित पदार्थोंपर अपना अधिकार माना ही न जाय। प्रभुका नित्य-निरन्तर मधुरतम स्मरण होता रहे।' यद्यपि यह परम सत्य है कि प्रेमास्पद प्रभु अपने प्रेमीको कभी भूलते ही नहीं, नित्य-निरन्तर अपने मनमें उसे बसाये रहते हैं और सदा-सर्वदा उसके समीप ही बसे रहते हैं, तथापि यदि प्रभुको इसीमें सुख मिले कि वे प्रेमीको भूले रहें तो प्रेमी यही चाहता है कि 'मुझे वे भूलकर भी सुखी रहें।' पर ऐसा होता नहीं; प्रभु तो प्रेमीके नित्य ऋणी रहते हैं और लालायित रहते हैं ऐसे प्रेमीके पवित्रतम एवं मधुरतम प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये। वे कभी तृप्त होते ही नहीं, उनकी कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं। नित्यतृप्त, नित्य निष्काम, नित्य पूर्णकाम, सदा अकाम पूर्णतम प्रभु प्रेमीके पवित्र प्रेमरसका पान करनेके लिये सकाम बने रहते हैं। यही निर्मल प्रेमकी महिमा है। प्रेमका मूल 'त्याग' है; जितना ही जहाँ त्याग होता है, उतनी ही प्रेममें निर्मलता आती है। प्रेमका कहीं अन्त तो है ही नहीं। प्रेम और किसी भी योग्यताको नहीं देखता, केवल त्यागमय आकर्षणसे ही वह खिंचा चला जाता है। प्रेम—प्रभुका स्वरूप यही है।

× × × ×

मनको सदा ही प्रभुके स्मरणमें, उनके सांनिध्यमें लगाया रखकर उसे आनन्दमय रखना चाहिये। भगवान्‌का मङ्गलमय स्मरण होता रहे और चित्त विषयोंकी ओर न जाय—बस, ठीक है।

× × × ×

तुम्हारा मन बहुत ही प्रसन्न है, यह प्रसन्नताकी बात है। आत्यन्तिक सुख केवल श्रीभगवान्‌में ही है। उनको छोड़कर जो अन्यत्र सुखकी आशा रक्खी जाती है और सुख खोजा जाता है, यही हमारी बड़ी भूल है। इसीको तुलसीदासजीने जीवकी जडता कहा है—

और आस बिस्वास भरोसो हरौ जीव जड़ताई। (विनयपत्रिका १०३ । १)

भगवान्‌के सिवा कहीं सुख है ही नहीं—इस दृढ़ निश्चयसे ही भगवान्‌में रुचि हुआ करती है और फिर भगवान्‌का प्रेमयुक्त मधुर स्मरण नित्य-निरन्तर सुखकी वृद्धि करता रहता है। इस सुख-वृद्धिका कभी विराम होता ही नहीं; क्योंकि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। इसीसे प्रेमका निर्मल, निर्द्वन्द्व सुख भी प्रतिक्षण वर्धमान ही होता है। हमें उस विशुद्ध प्रेमकी सेवा करनी चाहिये, जो अखिल आचारको प्रियतम प्रभुके अर्पण करवाकर मनुष्यको प्रभुका स्मरणरूप ही बना देता है। क्षणभरके लिये भी विस्मरण फिर नहीं होता। नारदजीने कहा है—

'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।' (नारदभक्तिसूत्र १९)

अतएव भगवान्‌का जितना ही पवित्र मधुर स्मरण होगा, उतनी ही खरी तथा सच्ची प्रसन्नता बढ़ती चली जायगी।

× × × ×

भगवान्‌की कृपा हम सभीपर असीम है। रात-दिन लगातार उनकी कृपा-सुधा बरस रही है। भगवान्‌की इस महती कृपापर विश्वास करते ही सारा वर्तमान-भविष्य मङ्गलमय और आनन्दमय बन जाता है। जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभीमें उनका अपार लीलानन्द ही अभिव्यक्त हो रहा है। अतः सदा-सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें आनन्दमग्न रहना चाहिये। जगत्‌का कोई चित्र ही न आये और आये तो बस, भगवान्‌की लीलाके रूपमें ही; अन्य सब कामना-वासनाओंका सर्वथा नाश हो जाय।

'भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन सदा-सर्वदा लगा रहे, भगवान्‌के मधुर दर्शन होते रहें, भगवान्‌का मधुर आलिङ्गन-सुख सदा प्राप्त होता रहे, जीवनमें कोई भी अन्य कामना-वासनाका बीज ही न रह जाय—यह बहुत ही अच्छी अभिलाषा है। मनुष्य जब अनन्य-अभिलाषायुक्त होकर भगवान्‌की ओर बढ़ता है, तब संसारसे उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। फिर संसारका कोई मोह उसे रोक नहीं सकता। बँधा हुआ ही रुकता है। भगवान्‌के साथ प्रेम-बन्धनका अर्थ है—विषय-बन्धनका टूट जाना। भगवान्‌में अनन्य ममताका अर्थ है—अन्य सबके साथ ममताके सम्बन्धका विच्छिन्न हो जाना।

× × × ×

जगत्‌के भोगोंमें वितृष्णा अवश्य होनी चाहिये। मनके भीतर घुसकर देखते रहना चाहिये कि वह किसी वासनाको तो छिपाये नहीं बैठा है। अन्तर्मनमें भी विषय-वासनाका रहना तथा पोषण प्राप्त करना हानिकारक है। सत्य तथा गम्भीर भावसे भगवान्‌का आराधन होना चाहिये।

विषयविरक्ति तथा भगवदनुरक्ति—ये दो प्रधान चीजें हैं, जो हमें प्राप्त करनी हैं। संसारसे ममता-आसक्ति हटकर सारी सच्चिदानन्दघन प्रभुके श्रीचरणोंमें हो जाय, इसीके लिये प्रयत्न तथा भगवत्कृपाके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी है।

भगवान्‌का स्मरण सदा बना रहे, जीवनमें पवित्र भगवद्भावोंका ही विस्तार रहे, यह चेष्टा करनी चाहिये। 'स्वस्थ' मनका अर्थ है—निरन्तर उसका भगवान्‌में लगे रहना।

× × × ×

प्रेमकी भीख प्रेममय प्रेमस्वरूप श्रीभगवान्‌से ही माँगनी चाहिये। पर अपनेको प्रेमसे शून्य क्यों मानना चाहिये? विश्वास करना चाहिये कि प्रेमस्वरूप भगवान् निश्चय ही अपना दिव्य प्रेम मुझको दे रहे हैं—अनवरत दे रहे हैं, देते ही रहेंगे। प्रेमका अन्त तो है ही नहीं। जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही उनका प्रेम भी अनन्त है। पर प्रेमीका स्वरूप यही है कि उसे अपने प्रेममें सदा त्रुटि दीखती रहे।

अपनेमें प्रेम लक्षित न होना गुण है—प्रेमका शुभ लक्षण है। प्रेमका पता ही नहीं लगना चाहिये।

× × × ×

श्रीभगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे तथा जगत्‌के प्राणि-पदार्थोंसे ममता-आसक्ति निकल जाय—ऐसा प्रयत्न सदा करते रहना चाहिये। मङ्गलमय भगवान्‌की नित्य अखण्ड कृपा बरस रही है। हम सब सदा उससे भीगे रहते हैं, परमानन्द तथा परम शान्ति हमारे साथ सदा रहती है—ऐसा निश्चय रखना चाहिये।

× × × ×

कोई भी मनुष्य भगवान् नहीं है। यों तो शिष्य अपने गुरुको, पुत्र अपने पिताको, पत्नी अपने पतिको, पूजक अपने श्रीविग्रहको भगवान् मानता है और उसके लिये वे भगवद्रूप फल भी देनेवाले होते हैं, तथापि किसीको वैसे न तो भगवान् मानना चाहिये न कहना चाहिये कि 'अमुक भगवान्' हैं। इससे कोई भी लाभ नहीं होता। भगवान् भगवान् ही हैं।

× × × ×

मनुष्यका परम ध्येय एक ही है—भगवान्‌के पावन प्रेमकी प्राप्ति। विषयासक्ति तथा विषय-कामना इसमें बड़ी बाधक है। किसी प्रकार—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विषयासक्ति तथा विषय-कामनाका परित्याग करना है। ये छिपी रहती हैं और कभी-कभी भगवान्‌के प्रेमके नामपर भी धोखा दे जाती हैं। मनको भगवान्‌के अर्पण करके, उन्हींको निरन्तर उसमें विराजित रखना चाहिये, जिससे संसार और संसारकी विषय-वासना मनमें घुसने ही न पायें। बड़ी सावधानी तथा बड़ी मजबूतीके साथ यह कार्य करना है—भगवान्‌की अखण्ड मधुर स्मृति और विषयोंसे आत्यन्तिक उपरति। यही साधना है।

श्रीभगवान्‌की कृपाका सदा अनुभव करते रहना चाहिये। भगवत्कृपा कभी-कभी बड़े प्रतिकूल रूपमें आया करती है। उस समय भी कृपाकी अनुभूति तथा कृपामय प्रभुके प्रति कृतज्ञता होनी चाहिये। जगत् क्षणभङ्गुर है, यहाँ कुछ भी स्थिर और नित्य नहीं है। प्रभुका दर्शन हर समय, हर हालतमें करते रहना चाहिये। यह भगवत्कृपापर विश्वास करके उसका अनुभव करते रहनेसे ही होता है।

श्रीभगवान्‌की बड़ी ही कृपा है। भगवान्‌का इतना अगाध प्रेम है हम जीवोंपर कि उसकी कहीं तुलना ही नहीं है। वे सदा ही हमसे मिलनेको आतुर रहते हैं—नहीं-नहीं, मिले ही रहते हैं। नित्य-निरन्तर, सर्वत्र, सर्वथा उनकी संनिधिका अनुभव करते रहना चाहिये। भगवत्प्रेम-रस-सुधाका पान करते-करते कभी तृप्त नहीं होना चाहिये।

जीवनके दिन बीते जा रहे हैं। कितने साथी-परिचित चले गये, मानो वे थे ही नहीं। यही दशा हम सबकी होनेवाली है। भगवान्‌के स्मरणमें—भगवद्भजनमें ही जीवनका प्रत्येक क्षण बीतना चाहिये। संसारके पदार्थोंकी अनित्यता हमारे सामने है। धन-जन सभी क्षणभङ्गुर हैं। इस स्थितिमें विशेष चेष्टा करके हमलोगोंको भगवद्भजनमें लगना चाहिये।

भगवान्‌का स्मरण सदा बनाये रखना। जीवन अत्यन्त क्षणभङ्गुर है। इसे किसी भी तरह, किसी भी भावसे विषय-सेवनमें नहीं लगाना चाहिये। जीवनका एक-एक पल भजनमें ही बीतना चाहिये, तभी मानव-शरीरकी सार्थकता है।

× × × ×

मनुष्यका मन जहाँ है, वहीं वह है। मन यदि भगवान्‌में है तो वह भगवान्‌में ही है। मनमें नित्य-निरन्तर भगवान्‌को रखना या मनको नित्य-निरन्तर भगवच्चरणोंमें ही संलग्न रखना चाहिये। फिर देह कहीं भी रहे, नित्य आनन्द—नित्य शान्ति रहेगी। देह समीप है, किंतु मन यदि पास नहीं है—विषयोंमें भटकता है तो वह समीपता नहीं है। चित्तका सर्वथा संयोग रहना चाहिये भगवान्‌के साथ। विषयचिन्तन ही विष है। उससे सदा बचे रहना चाहिये।

× × × ×

वास्तवमें जीवन सर्वथा भगवन्मय हो जाना चाहिये, संसारके सृजन-संहार तथा अच्छे-बुरे परिवर्तन तो होते ही रहेंगे। मरते ही यहाँका सारा सम्बन्ध छूट जाता है, अतएव पहलेसे ही इससे सम्बन्ध छोड़कर भगवान्‌से—केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये।

× × × ×

श्रीराधामाधव—प्रिया-प्रियतमकी झाँकी ही जीवनका सर्वोत्तम लाभ है। बार-बार मनमें आये, उसीके अनुसार लीलाकी भावना करनी चाहिये; फिर वास्तविक लीलाकी अनुभूति होने लगेगी। मनमें भाँति-भाँतिकी लीलाओंकी स्फूर्ति होनी चाहिये। तुम्हारे लिये क्या चाहता हूँ, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। मेरा तो मन करता है कि तुम सदा-सर्वदा श्रीभगवद्-रस-पानमें ही प्रमत्त रहो। यह जगत् तुम्हारे

लिये रह ही न जाय; केवल तुम्हारे प्रभु रहें और तुम रहो। पवित्र सच्चिदानन्दघन-सुधा-रसका नित्य आस्वादन करते रहो। जब जगत् ही न रहेगा, तब जगत्के विषय कहाँसे रहेंगे! फिर तो तुम एकमात्र विशुद्ध चिन्मय रस-राज्यमें स्थित होओगे। यही जीवनका परम ध्येय होना चाहिये। तुम इच्छाको प्रबल, एकान्त और अनन्य करो। भगवान्की अहैतुकी कृपापर विश्वास करो। जीभको उनके नाम-रटनमें तथा मनको उनके मधुरतम चिन्तनमें लगा दो। शरीरके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको उनकी सेवा अनुभव करो तथा निरन्तर उनकी लीलाओंका अपने इच्छानुसार चिन्तन करते रहो। उनकी कृपा तो है ही, वह शीघ्र ही फलवती होकर तुमको निहाल कर देगी। मनुष्य जब भगवान्का हो जाता है, तभी वह निहाल हो जाता है। उसकी सारी बिगड़ी सुधर जाती है। तुम विश्वास करो—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबही आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

(दोहावली २२)

× × × ×

अपने ऊपर भगवान्की अनन्त कृपा समझनी चाहिये। भगवान् सर्वत्र हैं, सब समय हैं; अतएव निरन्तर उनकी संनिधिका अनुभव करके पल-पलमें प्रसन्न होना चाहिये। भगवान्का प्रेमी कभी दुःखी होता ही नहीं। उसके पास परम सुखकी एक अटूट निधि होती है—परम प्रेमास्पद प्रभुकी पवित्रतम और मधुरतम स्मृति। यह निधि सदा उसकी सेवामें रहती है। इसलिये वह सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रेमानन्द-सुधा-रसका मधुर आस्वादन करता हुआ नित्य प्रसन्न रहता है।

(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

हृदयकी चाह

यही प्रार्थना है, भगवन्! यदि दुख पाऊँ मैं किसी प्रकार।
तो सहनेके लिये धैर्य तुम देते रहना बारंबार॥
चाहे जितनी भी पीड़ा हो, मनमें भी हो व्यथा अपार।
संकट-पर-संकट भी आये, टूटे नहीं धैर्यका तार॥
छूटें नाते-रिश्ते सारे, छूटे कुल, छूटे परिवार।
सब छूटे तो छूटे, प्रभुवर! तुम न छोड़ना, प्राणाधार॥
नटवर नागर कृष्ण कन्हैया! करुणासागर प्रेमागार।
दीन अकिंचन नतमस्तक है, कबसे खड़ा तुम्हारे द्वार॥
नहीं चाहिये धन या वैभव, नहीं चाहिये पद-अधिकार।
यही चाह है—पाऊँ, प्रभुवर! सदा तुम्हारा पावन प्यार!

—रघुनन्दनप्रसाद सिंह पत्रकार

भगवान्‌का स्मरण

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी)

भगवान् सर्वव्यापक ही नहीं, हमारे अत्यन्त निकट हैं, यह हम सभी जानते और मानते हैं; लेकिन हम उनको नित्यशः भक्तिभावसे स्मरण नहीं करते। कभी यह काम तो कभी दूसरी अड़चन—इस प्रकार हम कोई-न-कोई बहाना लेकर भक्तिभावसे भगवान्‌के स्मरणमें लापरवाही करते हैं। भगवान्‌का नित्य स्मरण न करना, अपना ही हनन करना है। हम बड़ी भारी भूल करते हैं, जो भगवान्‌के नित्य स्मरणमें लापरवाही करते हैं। भगवान् अत्यन्त कोमल-हृदय, दयालु एवं क्षमाशील हैं। उनकी दया और कृपापर विश्वास करके हमें अपने सम्पूर्ण कर्मोंको उनके प्रति अर्पण करते रहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि जिस दिन हमने श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्‌का मधुर स्मरण नहीं किया, वह दिन हमारा व्यर्थ गया।

एक संतका यथार्थ कथन है—

जे दिन बीते राम-भजनमें। वे दिन आवें गिनतीमें॥

वही दिन सार्थक है और उसी दिनकी जीवनमें गणना की जाती है, जिस दिन हमने भगवद्भजन किया हो। भगवान्‌के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध हम भक्ति-भावसे नित्य जोड़ते रहें और कर्तव्य मानकर उनका नित्य स्मरण करें तो भगवान् हमें अपनानेमें देर नहीं करेंगे।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

'जिस क्षण मनुष्य भगवान्‌के सम्मुख होकर उनका भक्तिपूर्वक स्मरण करता है, उसी क्षण उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं।'

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

'पापियोंका यह स्वभाव है कि उनको भगवान्‌का भजन अच्छा नहीं लगता।'

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

'जिस भक्तका मन निर्मल है, वही भगवान्‌को पाता है, भगवान्‌को कपट-छल-छिद्र अच्छा नहीं लगता।'

तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

जो भक्त मद-मोह-कपट-छल छोड़ देता है, भगवान् उसको तुरंत साधु बना देते हैं और अपना लेते हैं और ऐसे भक्तोंका योग-क्षेम स्वयं भगवान् वहन करते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी ममता सांसारिक वस्तुओंसे हटा लें। सांसारिक वस्तुएँ सब वासनामय हैं और वे चित्तको भ्रमित करती रहती हैं। इसलिये जिससे जहाँतक बन सके, इन समस्त ममताकी वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध कम करके भगवान्‌के नाम, गुण, रूप और लीलामें अपना समय लगाये।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

माता-पिता, भाई-पुत्र, स्त्री-शरीर, घर-धन, मित्र-परिवार—इन सबकी ममताके तागोंको इकट्ठा करके भगवान्‌के चरणोंसे बाँध देना चाहिये। अर्थात् भगवान्‌के चरणोंमें श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मन लगाना चाहिये और उन्हींको अपना माता-पिता, भाई आदि समझना चाहिये। ऐसे श्रद्धालु भक्तोंके साथ भगवान्‌का क्या सम्बन्ध होता है, यह तो भगवान् स्वयं बतलाते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

ऐसे श्रद्धालु, समदर्शी, हर्ष-शोकरहित भक्तोंको उनके आत्मसमर्पणसे प्रसन्न होकर ही भगवान् उन्हें स्वयं अपने हृदयमें उसी प्रकार वास देते हैं, जैसे लोभियोंके हृदयमें धनका वास रहता है।

सब तजि तुम्हहि रहइ लय लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥

इस प्रकार जो सांसारिक वस्तुओंसे यथाशक्ति अपना मन हटा लेते हैं, भगवान् भी उन्हींके हृदयको

अपना निवास बनाते हैं। ऐसे ही प्रिय भक्तोंके हेतु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। विभीषणसे मिलते हुए भगवान् राम स्वयं कहते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥

भगवान् कहते हैं—

'मैं भक्तोंके लिये ही शरीर धारण करता हूँ, किसी औरके निहोरा करनेपर नहीं।' इसलिये हमारे मनुष्य-शरीरकी विशेष महत्ता है। जो भगवान्‌ने हमें मनुष्य-शरीर दिया है, उसके द्वारा हमें केवल विषय-भोग नहीं करना है, बल्कि विषय-वासनाओंसे मुक्त होकर इस मानवशरीरसे यथासम्भव भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करनी है, यही इस मनुष्य-शरीरका यथार्थ उद्देश्य है—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥

मनुष्यका शरीर जो भगवान्‌ने हमें दिया है, उसका यथार्थ फल यही है कि सब वासनाओंका त्याग करके हम यथासम्भव भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामका मनन और चिन्तन करें और वह भी भक्तिपूर्वक।

भगवद्भजनमें भक्तिकी विशेष महत्ता है। बिना भक्तिके केवल योग-जप-व्रत-पूजासे ही भगवत्-प्राप्ति होना सम्भव नहीं—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥

जैसे बिना नमकके सभी व्यञ्जन व्यर्थ हैं, वैसे ही बिना भक्तिके भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये किये गये जप-व्रत-पूजा आदि साधन अधूरे ही हैं और रहेंगे। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये किये गये सभी साधन भक्तिपूर्वक होने चाहिये।

भक्तिको ही दूसरे शब्दोंमें प्रेम कहते हैं।

'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'

'भगवान् भक्ति अर्थात् प्रेमसे ही साकाररूपमें प्रकट होते हैं।' भगवान्‌का कोई एक रूप नहीं है, संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सभी भगवान्‌के रूप हैं। इसलिये भक्त प्राणिमात्रसे प्रेम करता है। लता-वृक्ष एवं पहाड़ आदि सभीमें विराजमान प्रभुको पहचानकर विश्वमें सभीसे प्रेम करना भक्तका स्वभाव है। सबको देखकर भक्तके अंदर प्रेमजनित विह्वलता आनी चाहिये।

भक्त भी दो प्रकारके बतलाये गये हैं। एक प्रकारके भक्त वे हैं, जो कठिनाइयोंको झेलते हुए, सभी प्रकारके कष्टोंको सहते हुए, दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं और इसके बदलेमें भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगते। यहाँतक कि वैकुण्ठ-प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करते। दूसरे प्रकारके भक्त वे हैं, जो अपनी पूजाके पुरस्काररूपमें भगवान्‌से उनके परमधाम वैकुण्ठकी प्राप्ति चाहते हैं। एककी भक्ति निष्काम और दूसरेकी भक्ति सकाम है, किंतु दोनों ही प्रकारकी भक्ति अच्छी है। जिसके मनमें जो भाव हो, उसीके अनुसार उसे भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये। दुर्लभ नर-तनु पाकर भगवद्भजन करना हमारा परम कर्तव्य है।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

उसी मनुष्यका जीवन सार्थक है, जो इस नर-तनके पानेपर भगवान्‌की भक्ति करता है। जो इस नर-तनसे भगवान्‌की भक्ति और उनका भजन नहीं करता, उस व्यक्तिको मुर्देकी संज्ञा दी गयी है; कारण, वह जीवित ही मुर्देके समान है। अतएव हमें अपने जीवनको सार्थक बनानेके लिये भगवान्‌की उपासना अवश्य करनी चाहिये। संसारके सारे पदार्थ, जिन्हें हम अपनी आँखोंसे देख सकते हैं या देखते हैं, स्वप्नतुल्य हैं, नाशवान् हैं; एकमात्र भगवान् ही सत्य, सदा रहनेवाले हैं। उनका कभी नाश नहीं होता। शिवजीने एक ही पद्यांशमें अपना सारा अनुभव भगवती पार्वतीको बतला दिया है, जो सारे धर्मोंका, सारे उपदेशोंका सार है और जिसपर चलना सभी मनुष्योंके लिये अनिवार्य है। वह पद्यांश है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥

अतएव जहाँतक हो सके, भक्तिपूर्वक परम विश्वास और श्रद्धाके साथ अपने दैनिक जीविकोपार्जनके कर्तव्योंके साथ-साथ सबको भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये।

अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

[प्रेषक—व्यौहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी]

आजकल सर्वत्र वादोंकी चर्चा सुननेमें आती है। अनेक वादोंकी उलझनमें उनका विभाजन या वर्गीकरण कठिन हो गया है। भारतवर्षमें तत्त्वोंकी चर्चा बहुत प्राचीनकालसे होती आयी है। तत्त्वोंकी चर्चा करते हुए भगवान् कपिलदेवने चौबीस तत्त्व बतलाये हैं। इसी प्रकार अन्य शास्त्रकारोंने तत्त्वोंकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें गणना की है।

सृष्टिके आदिकालसे, जबसे मनुष्यके मस्तिष्कका आविर्भाव हुआ, तत्त्वकी जिज्ञासा और खोज बराबर होती आयी है। यदि हम इन वादोंका वर्गीकरण करें तो वे मुख्य रूपसे दो विभागोंमें बाँटे जा सकते हैं—पहले वे, जो अन्य रूपसे सृष्टिके रहस्यकी खोज करते हैं; दूसरे वे, जो आत्मरूपसे उसकी खोज करते हैं। संस्कृतमें इनको 'इदमर्थ' और 'अहमर्थ' कहते हैं। जो 'इदम्'की ओर चलता है, वह अन्तमें 'इदम्'को 'अहम्'में मिला देता है और जो 'अहम्'की ओर चलता है, वह 'अहम्'को 'इदम्'में मिला देता है। अन्तमें दोनों अद्वैतवादपर पहुँचते हैं।

शून्यवादी मानते हैं कि जगत्‌का कोई उपादान कारण नहीं है। जिन लोगोंने इदम् (जगत्)की खोज की, उन्होंने सत्तामात्र अचेतनकी प्राप्ति की। इस अचेतनको ही उन्होंने निरिन्द्रिय-रूपमें प्राप्त किया और वे 'जडाद्वैतवादी' कहलाये। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानका विकासवाद इसीसे निकला है। इसके बाद कुछ श्रद्धालुओंने चेतन सत्ताको कारण माना और वे चेतन-कारणवादी कहलाये। विज्ञानकी खोज यन्त्रोंके द्वारा की जाती है। इसलिये वे केवल बाह्य वस्तुओंका परीक्षण कर पाते हैं। अणुशक्तिका विश्लेषण करके उन्होंने अणुबमका आविष्कार किया, किंतु हृद्यन्त्रका परीक्षण करनेपर वे उसमें असफल हो गये; क्योंकि यन्त्रोंके द्वारा आत्माका परीक्षण नहीं हो सकता।

किसी भी तत्त्वको लें, उसके मूलमें 'अहम्'-पदार्थको तो मानना ही पड़ेगा। 'अहम्'के बिना 'इदम्'की खोज हो ही नहीं सकती। उपादानवादियोंके इस प्रकार दो भेद होते हैं। पहला 'जड-उपादानवादी' और दूसरा 'चेतन-उपादानवादी'। इनको 'अन्तरङ्गवादी' और 'बहिरङ्गवादी' भी कह सकते हैं। अन्तरङ्गवादियोंमें विज्ञान एवं सांख्य दोनों आ जाते हैं; क्योंकि वे महत्तत्त्व या बुद्धिको ही जगत्‌का कारण मानते हैं। बहिरङ्गवादियोंमें परमाणुवादी आते हैं, जो परमाणुओंको ही जगत्‌का कारण मानते हैं। चार्वाकके अनुयायी भी इसी कोटिमें आते हैं; क्योंकि वे पञ्चभूतोंको इस जगत्‌का कारण मानते हैं। योगवादी और भक्तिवादी ईश्वर और परमात्माको जगत्‌का कारण मानते हैं, इसीलिये वे अन्तरङ्गवादियोंमें आते हैं। जगत्‌की उत्पत्तिके सम्बन्धमें जितने मत हैं, वे पाँच विभागोंमें बाँटे जा सकते हैं—पहले जड सत्तासे चेतनकी उत्पत्ति माननेवाले, दूसरे चेतनसे जडकी उत्पत्ति माननेवाले, तीसरे चेतन और जड दोनोंको स्वतन्त्र और अनादि माननेवाले, चौथे जड-चेतन दोनोंको मिथ्या माननेवाले, पाँचवें जड-चेतन दोनोंको एक माननेवाले। इस अन्तिम कोटिमें अद्वैत-वेदान्ती आते हैं।

किसी भी मतका प्रतिपादन करें, एक मूल सत्ताको स्वीकार करना ही पड़ेगा, जो स्वयं प्रकाशित है। किसी वस्तुका प्रतिभात होना तथा उसका यथार्थमें होना—ये दोनों बातें बिल्कुल अलग-अलग हैं। जो वस्तु दीख पड़ती है, वह असलमें है नहीं। जगत्‌के सम्बन्धमें यही बात है, किंतु ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं है।

जो सत् है, वही जान पड़ता है; अतः ज्ञानको 'सत्' कहा गया है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'

जगत्का मूल तत्त्व 'सत्' ही है। यह संसार भी सत्स्वरूप है। असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (उपनिषद् कहती है—अथ असतः सदजायत। 'असत्से सत्की उत्पत्ति होती है।') सत् जड नहीं है—ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानको सत्-मात्र माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है। इसी प्रकार सत्-मात्रको चित्-मात्र माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सत्य और ज्ञान समानार्थक हैं। दोनों मतोंकी नींव दार्शनिक आधारपर अवस्थित है। अब प्रश्न यह है कि भौतिकवाद अध्यात्मवादसे संगत है या नहीं। पहली बात तो यह है कि अध्यात्मके समर्थनका अर्थ अधिभूतका खण्डन नहीं है, वरं दोनोंका समन्वय है। श्रुति कहती है कि अन्नकी उपासना ब्रह्मके रूपमें करनी चाहिये—'अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत।'

इसका फल भी बतलाया है कि इस उपासनासे अन्नकी कमी कभी नहीं होगी। अब अन्न तो आधिभौतिक वस्तु है, किंतु उसमें ईश्वरत्वका भाव लाना अध्यात्मवाद है। दोनोंके मेलसे संसारके अभावकी पूर्ति होती है। श्रुतिमें यह भी कहा गया है कि 'पहले केवल जल ही था—'सलिलमेवासीत्।' इस जलमें परमात्माने बीज वपन किया और अन्नकी उत्पत्ति हुई। जल जड हुआ और उसके अंदर बीजरूप ब्रह्म अध्यात्म हुआ। इसी प्रकार अग्निकी भी उपासना की जाती है—'अग्निमीळे पुरोहितम्।' यद्यपि अग्नि जड है, फिर भी उसके अंदर विद्युत्-प्रवाह है। यही अध्यात्म है। इसी प्रकार अध्यात्म और अधिभूत दोनों मिलकर बोलते हैं। उपनिषदोंमें वायुकी उपासना भी ब्रह्मरूपसे बतायी गयी है—'वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।' इसी प्रकार जल, आकाश, प्राण और मन आदिकी ब्रह्मस्वरूपसे उपासनाका कथन किया गया है।

इससे जान पड़ता है कि अध्यात्म और अधिभूतमें कोई विरोध नहीं है। जो दोनोंमें विरोध समझते हैं, वे ब्रह्मवादके स्वरूपको नहीं समझते। अन्न या रोटीकी उपासना व्यवहारके लिये और ब्रह्मकी उपासना अध्यात्मके लिये। संज्ञा व्यवहारके लिये स्वीकार की जाती है। 'कल्पिता व्यवहारार्थं संज्ञास्तस्य महात्मनः।' रूपभेद या नाम-भेदसे तत्त्वभेद नहीं होता।

अध्यात्मका अधिभूतसे कोई विरोध नहीं है। उसका विरोध तो देहात्मवादसे है। देहको आत्मा मानना 'देहात्मवाद' है। शरीर मिट्टीसे बना है। इसलिये उसका सम्बन्ध पञ्चभूतोंसे है, आत्मासे नहीं। अग्नि, तेज, वायु, पृथ्वी और आकाश—इन पाँचोंका वह खजाना है। जिस प्रकार घड़ेके चलनेसे आकाश नहीं चलता और उसके फूटनेसे आकाश नहीं फूटता, उसी प्रकार शरीरके चलने या नाश होनेसे आत्मामें कोई विकार नहीं आता।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी भौतिक पदार्थ हैं। इनपर अधिकार करनेका अर्थ है आत्माको सीमित कर देना और 'अहम्'की पूजा करना। इनको लेकर राग-द्वेष करना अविद्यामूलक है।

विश्वसे मानव अथवा समाजका विरोध नहीं है; क्योंकि वे उसके अङ्ग हैं। केवल देह और आत्माका विरोध है; क्योंकि वे एक दूसरेके अङ्ग नहीं हैं। इस प्रकार अध्यात्मवादका विरोध देहात्मवादसे है, भौतिकवादसे नहीं। भौतिकवाद कोई बला नहीं है, जो उसका विरोध किया जाय। भौतिकवाद और देहात्मवादको एक ही समझनेके कारण सारी गड़बड़ी पैदा होती है।

जिस प्रकार भौतिकवादको लोग नहीं समझते, उसी प्रकार अध्यात्मवादको भी नहीं समझते। 'धर्म' शब्दका भी इसी प्रकार दुरुपयोग होता है। उसे लोग 'रिलीजन' या मजहबके अर्थमें समझते हैं; किंतु धर्मका अर्थ वह शक्ति है, जो उच्छृङ्खलताको रोके—जो समाजको धारण करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत ८। ६९। ५८)

अध्यात्मवादमें लौकिक जीवनकी उपेक्षा नहीं है। पूँजीवादी संसारकी सम्पत्तिके लिये मानवकी उपेक्षा करते हैं, भौतिकवादी मानवकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंतककी परवा नहीं करते। मानवके लिये धनका उपयोग करना अध्यात्मवादके अन्तर्गत है। भौतिकवादमें वस्तुकी प्रधानता और व्यक्तिकी उपेक्षा होती है, जब कि अध्यात्मवादमें व्यक्तिकी प्रधानता और वस्तुकी उपेक्षा होती है। सारे संसारके लिये भी मानवकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। यही अध्यात्मवाद है। उपनिषदोंमें कहा गया है कि सम्भूति और असम्भूति दोनोंकी ही उपासना होनी चाहिये। 'सम्भूति'का अर्थ है—कार्य-ब्रह्म या भौतिक जगत् और 'असम्भूति'का अर्थ है कारण-ब्रह्म या अध्यात्मजगत्। इन दोनोंका समन्वय किये बिना सम्पूर्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती। लोग प्रत्यक्ष ब्रह्म अर्थात् भौतिक जगत्में इतने लिप्त हो जाते हैं कि कारण-ब्रह्मकी उपेक्षा करने लगते हैं। उपनिषद् कहती है कि जो इस प्रकारसे केवल सम्भूतिकी उपासना करते हैं, वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं—दूसरी ओर जो कारण-ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे और भी घने अन्धकारमें प्रवेश करते हैं*। हमें अध्यात्म और जगत्—समाधि और व्यवहार दोनोंका समन्वय करना है।

एक महात्माको किसीने एक फूल भेंट किया। महात्मा उसी फूलकी ओर एकटक देखते रह गये। फूल देनेवालेने कहा कि 'आप मेरी ओर देखते ही नहीं, मेरी दी हुई वस्तुकी ओर देख रहे हैं।' महात्माने फूलकी ओरसे दृष्टि उठायी और फूल देनेवालेकी ही ओर एकटक देखने लगे। तब उसने कहा, 'मैं यह नहीं चाहता कि आप मेरी ओर ही देखते रहें। मैं चाहता हूँ कि कभी मेरी ओर देखिये और कभी फूलकी ओर।' इसी प्रकार परमात्मा चाहता है कि हम कभी उसकी ओर देखें और कभी उसके बनाये हुए संसारकी ओर—अध्यात्मका भी चिन्तन करें और भौतिक (व्यवहार) की भी उपेक्षा न करें।

संसारकी प्रत्येक क्रिया गणितके अनुसार होती है। अणुकी गतिका ज्ञान हो जानेपर अणुबमका आविष्कार हुआ। वेदान्त कहता है कि 'जगत्के जड कारणकी सिद्धि नहीं हो सकती।' ब्रह्मसूत्र कहता है—'**रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्**' (२।२।१) संसारके उल्लास और ह्रास—दोनोंके मूलमें महान् या समष्टि बुद्धि है। चाहे उसे बुद्धि कहिये या ईश्वर। बुद्धिकी दृष्टिसे महत्-तत्त्व सिद्ध होता है और बुद्धिमान्की दृष्टिसे ईश्वर। शक्ति किसी-न-किसी पदार्थके रूपमें व्यक्त होती है और नियमित रूपसे अभिव्यक्त होती है, ईश्वर विश्वरूपमें व्यक्त होता है।

केवल दर्शनमें तन्मय रहनेसे हम भूखे रह जायँगे और केवल भूखको देखनेसे ज्ञानहीन रह जायँगे। हमें जगत्को भी देखना है और जगत्कर्ताको भी। जगत्-कर्ताकी ओर ले जानेवाला अध्यात्मवाद है और जगत्का व्यवहार चलानेवाला भौतिकवाद है।

कुछ लोग समझते हैं कि व्यवहार-बुद्धि जड-प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है, इसमें भी अध्यात्मकी कोई हानि नहीं होती। सांख्यके अनुसार प्रकृतिसे महत्तत्त्व पैदा हुआ है। समष्टि बुद्धि ही महत्तत्त्व है। सांख्य और योग-दोनोंकी दृष्टिसे बुद्धि भी प्रकृतिसे उत्पन्न है। इस मतसे विज्ञानका भी विरोध नहीं है। चाहे चेतनासे जगत्की उत्पत्ति मानें चाहे जगत्से चेतनाकी, दोनोंका फल एक ही है। गीताके अनुसार तो बुद्धि-तत्त्व भी क्षेत्रके अन्तर्गत है, जब कि बुद्धि चेतन और क्षेत्र जड माना जाता है। चाहे बहिरङ्गसे अन्तरङ्गकी उत्पत्ति मानें—सृष्टि-दृष्टिवाद, चाहे अन्तरङ्गसे बहिरङ्गकी—दृष्टि-सृष्टिवाद; दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं है।

इस समय अध्यात्म अधिभूतके अधीन हो गया है। समस्या यह है कि पञ्चभूत अन्तःकरणसे अलग कैसे किये जायँ? किंतु अध्यात्मदृष्टिसे मन ही विषय है और विषय ही मन है। उपनिषद् कहती है कि मन अन्नमय है—

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥
(ईश० १२)

'अन्नमयं हि सोम्य मनः ।'

मनसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे मन बनता है; अतः दोनों एक ही हैं ।

गीतामें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दो तत्त्वोंकी चर्चा की गयी है । क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ आत्मा । क्षेत्र द्वन्द्वमें पड़ा है और क्षेत्रज्ञ उससे अलग है । असलमें अधिभूत और अध्यात्म—दोनों एक दूसरेमें मिले-जुले हैं, दोनोंका प्रेरक एक तीसरा ही है ।

हमारे यहाँ वेदों और उपवेदोंका विभाजन किया गया है । वेदोंमें अध्यात्म और उपवेदोंमें भौतिक उन्नतिकी चर्चा है । भौतिक उन्नतिके लिये स्थापत्यवेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद और गन्धर्ववेद—चारोंकी आवश्यकता है । सांसारिक स्थितिके लिये स्थापत्यवेद, स्वास्थ्यके लिये आयुर्वेद, रक्षाके लिये धनुर्वेद और कलात्मक उन्नतिके लिये गन्धर्ववेदकी आवश्यकता है ।

हम व्यक्तिगत जीवनको ही सर्वस्व मानकर देहवादी बन गये हैं, इस कारण भौतिकता, आध्यात्मिकता और सत्य—तीनोंसे च्युत हो गये हैं । भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों एक दूसरेके सहायक हैं और दोनोंका अन्तिम फल एक ही है । पञ्चभूतोंका उपयोग सार्वजनिकरूपसे और समष्टिरूपसे होना चाहिये । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये—यह भौतिकवादका सच्चा स्वरूप है ।

उसी प्रकार अध्यात्मवाद हृदय-शोधनके लिये है । उसके द्वारा हमें पाँच क्लेशों—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका निराकरण करना चाहिये । व्यक्तिगत स्वार्थकी उपासना ही दुःख है । अविद्याके कारण हम अपनेको देहमें सीमित मानते हैं, अस्मिताके कारण हम अपनेको पृथक् समझते हैं और उसीके कारण अनुकूलसे राग और प्रतिकूलसे द्वेष करते हैं । इन्हींके कारण आसक्ति और हठ—अभिनिवेश उत्पन्न होता है । जिंदा रहनेकी जिद ही 'अभिनिवेश' है ।

दुःखका कारण चाहे कोई कुछ भी माने, किंतु यह निश्चित है कि व्यक्तिगत जीवनकी शुद्धिसे समाजकी शुद्धि होती है और शुद्ध समाजमें वादोंका विवाद नहीं रहता । सीधी-सी बात यह है कि सब लोग अपने-अपने हिस्सेका श्रम करें और दूसरेके हिस्सेका लालच न करें । व्यक्ति विश्वसे पृथक् नहीं, किंतु उसका अङ्गभूत है । समष्टि पञ्चभूत भौतिकवादके विपरीत नहीं । अध्यात्मवाद और भौतिकवाद मूलमें दोनों एक ही हैं । समझदारोंमें कभी झगड़ा नहीं होता, नासमझोंमें ही झगड़ा होता है । भौतिकवाद भी अध्यात्मवादकी ओर बढ़ रहा है । सत्य तो दोनोंहीसे परे है और वह आत्मतत्त्व है । गूढ़ सत्यका अनुसंधान होनेके बाद ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा आदि सब एक हो जाते हैं । भूत और भविष्यके सभी मतोंको जाननेवाला दार्शनिक ही तत्त्वोंका ठीक-ठीक विवेचन कर सकता है । सत्यज्ञानसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है । उस एक तत्त्वको जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है ।

सारांश यह है कि वाद-विवाद विद्वानोंके लिये छोड़ देना चाहिये । हमें केवल जीवन-शोधनपर ध्यान देना चाहिये । जगत्‌का जीवन-यापन विज्ञान या ज्ञानके द्वारा नहीं, किंतु भावके अनुसार होता है । ज्ञानका अभिमान कर हमें श्रद्धापर कुठाराघात नहीं करना चाहिये । अन्धश्रद्धा कहकर उसका उपहास नहीं करना चाहिये । जीवनके सम्बन्धमें अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों एकमत हैं । धार्मिक या सत्-गुणी जीवनमें कोई विवाद नहीं है । सेवा, संयम, स्वार्थ-त्याग आदि दोनोंको मान्य हैं । उच्छृङ्खलताका अर्थ भौतिकवाद नहीं है और न संग्रह अध्यात्मवादका अर्थ है । मुख्य बात यह है कि हृदयमें श्रद्धा हो, बुद्धिमें विवेक हो और आत्मामें परिच्छिन्नता न हो । ऐसा होनेपर जीवन-सम्बन्धी कोई विवाद नहीं रहता, केवल विभागीय विवाद रह जाता है । बुद्धिजीवी लोग शास्त्रार्थ किया करें, किंतु विवादका प्रभाव व्यक्तिगत या सामाजिक जीवनपर नहीं पड़ना चाहिये । हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों ही जीवन संयमी, श्रद्धायुक्त और विवेकमय हों । इसीमें भौतिकवाद और अध्यात्मवादकी परिणति है ।

गीताका भक्तियोग—६

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ १२०३से आगे]

सम्बन्ध

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा दी गयी। इस सगुण-उपासनाके अन्तर्गत भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बतलाये। चारों साधनोंसे ही सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक सात श्लोकोंद्वारा पाँच प्रकरणोंमें करते हैं—

तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंका पहला प्रकरण है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षणोंका वर्णन हुआ है—

श्लोक

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

भावार्थ

यद्यपि भक्तिमार्गमें मूल बात यह है कि अहंताके बदलनेसे ही अर्थात्—शरीर और संसारको 'मैं'-'मेरा' न मानकर 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हैं' इस प्रकार मान लेनेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जाती है, फिर भी अहंताके बदलनेका परिणाम (भगवान्‌के) प्रति मैं-मेरे-पनका भाव हो जानेका (परिणाम) प्राणिमात्रके प्रति द्वेषरहित, वैररहित होनेसे ही प्रारम्भ होता है। अर्थात् द्वेष न होना ही साधककी पहली कसौटी है। किसीके प्रति द्वेषभाव न रहनेसे भगवान्‌के प्रति मैं-मेरापनका भाव स्वतः दृढ़ हो जायगा। स्थूलरूपसे द्वेषका त्याग भी सुगम है; क्योंकि सज्जन कहलानेवाले पुरुष भी किसीके प्रति भी द्वेष नहीं रखना चाहते, फिर साधक तो रख ही कैसे सकता है। इन बातोंकी ओर लक्ष्य करानेके लिये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् सबसे पहले 'अद्वेष्टा' पद देते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें साधन-पञ्चकका वर्णन किया गया, उनमेंसे 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः' पदोंसे जिन तीन साधनोंका वर्णन हुआ, उन्हीं साधनोंका इस अध्यायके छठे श्लोकमें क्रमशः 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य', 'मत्पराः' और 'अनन्येनैव योगेन' पदोंद्वारा किया गया है। साधन-पञ्चकमें कहे हुए—'सङ्गवर्जितः' पदसे बताये गये साधनका यहाँ छठे श्लोकमें भगवान्‌के प्रति अनन्य-प्रेममें अन्तर्भाव कर लिया गया; क्योंकि संसारमें आसक्ति न रहनेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो सकता है। राग न रहनेसे वैर-भाव नहीं रहता अर्थात् साधन-पञ्चकका पाँचवाँ साधन—'निर्वैरः सर्वभूतेषु' भी इसके अन्तर्गत आ गया; परंतु स्पष्टरूपसे 'अद्वेष्टा' पद सिद्धभक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि साधकका किसीके साथ भी वैर-विरोध नहीं रहना चाहिये।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, साधकका किसीके प्रति स्थूलरूपसे द्वेषभाव नहीं रहनेसे उसका भगवान्‌में मैं-मेरापन स्वतः हो जायगा। उसके अंदर जब द्वेषका सर्वथा अभाव हो जायगा, तब उसका एकमात्र भगवान्‌में ही मैं-मेरापन हो जायगा। इन्हीं दोनों बातोंको बतलानेके लिये भगवान्‌ने इन श्लोकोंमें सर्वप्रथम 'अद्वेष्टा' पदसे द्वेषके अभावको और अन्तमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' से

भगवान्‌में मैं-मेरेपनके भावको सिद्धभक्तोंके लक्षणोंमें संनिवेशित किया है।

सिद्धभक्तमें प्राणियोंके प्रति केवल द्वेषका ही अत्यन्त अभाव नहीं रहता, बल्कि उनके प्रति मित्रता और करुणाका भाव भी रहता है। एकमात्र प्रभुमें ही आत्मीयता होनेसे उस शरीर और संसारके प्रति अपनेपनका सर्वथा अभाव रहता है। विकट-से-विकट और अत्यन्त दुःखमय परिस्थितिकी प्राप्तिमें भी उसके अन्तःकरणमें समभाव रहता है। किसी भी प्राणीके द्वारा अपने प्रति किये गये अपराधको अपराध न माननेसे वह सदैव क्षमाशील होता है। एकमात्र भगवान् ही उसकी संतुष्टिका कारण होनेसे वह सदा ही संतुष्ट रहता है। केवल भगवान्‌में ही रमण करनेसे वह योगी है। उसके शरीरसहित मन-इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हैं। उसके निश्चयमें सर्वत्र एक परमात्मा ही है। 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हैं' इस प्रकार अनुभव करके उसने केवल भगवान्‌के साथ ही अपनी आत्मीयता कर ली है और भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करके वह भगवान्‌का ही चिन्तन करता है। इस प्रकारके भक्तको भगवान् अपना अत्यन्त प्यारा बतलाते हैं—

अन्वय

सर्वभूतानाम्, एव, अद्वेष्टा, मैत्रः, च, करुणः, निर्ममः, निरहंकारः, समदुःखसुखः, क्षमी ॥ १३ ॥

सततम्, संतुष्टः, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः, मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, यः, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥ १४ ॥

सर्वभूतानाम् एव अद्वेष्टा—सभी भूतोंमें द्वेषभावसे रहित। किसी भी प्राणीके साथ—यहाँतक कि अपना अनिष्टसे भी अनिष्ट करनेवालेके साथ भी जिसका द्वेषभाव नहीं है।

अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले, अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, महिमा आदिकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिका संयोग करानेवाले। कोई कितना ही अनिष्ट करे, निन्दा करे, अपमान करे, किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, भक्तके मनमें उसके प्रति कभी किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं होता। भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और सिद्धान्तके अनुकूल-प्रतिकूल किसी प्रकारका भी बर्ताव करनेवाले प्राणीके प्रति भक्तका जरा भी द्वेषभाव नहीं होता; कारण वह प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही व्याप्त देखता है, ऐसी दशामें वह विरोध करे तो किससे करे—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥'

(रा० च० मा०, उत्तर०, दो० ११२ ख)

इतना ही नहीं, वह अनिष्ट करनेवालोंकी सारी क्रियाओंको भगवान्‌का मङ्गलमय विधान मानता है।

मैत्रः च करुणः—स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है।

'अद्वेष्टा' पदसे भगवान्‌ने भक्तके अंदर सभी प्राणियोंके प्रति द्वेषका अत्यन्ताभाव बतलाया; किंतु भक्तमें केवल द्वेषका अभाव ही हो, इतनी ही बात नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें मैत्री और दयाका भाव भी रहता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९) और भगवान्‌का स्वभाव ही भक्तका स्वभाव होता है; इसलिये भक्तका सभी प्राणियोंके प्रति बिना किसी स्वार्थके स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥'

(रा० च० मा०, उत्तर०, ४७। २½)

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका भाव रहता है; क्योंकि वह समझता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टके रूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। फलतः उसने जो कुछ किया है, भक्तके लिये ठीक ही किया है; कारण, भगवान्‌का विधान बेठीक होता नहीं। इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि

उसका अनिष्ट करनेवाला अनिष्टमें निमित्त बनकर पाप कर रहा है, फलतः वह विशेष प्यारका पात्र है। साधक-मात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला साधकके पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। ऐसी दशामें उसका भी अनिष्ट करने-वालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। भक्तका तो उसके प्रति क्या, प्राणिमात्रके प्रति विलक्षण मैत्री और दयाका भाव रहता है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें पतञ्जलि महाराजने चित्त-शुद्धि-के चार हेतु बतलाये हैं—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यानां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।' (१। ३३) अर्थात् सुखियोंके साथ मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता और पापात्माओंकी उपेक्षासे चित्तमें प्रसन्नता होती है। भगवान्‌ने तो यहाँ भगवत्प्राप्त महापुरुषके लक्षणोंमें उदार-स्वभावके कारण प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और करुणाका भाव बतलाया है। भक्तका दुखियों और पापात्माओंके प्रति भी मैत्री और दयाका भाव रहता है, न कि उपेक्षाका।

निर्ममः—ममतासे रहित।

भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणा-का भाव रहते भी हुए किसीके प्रति यत्किंचित् भी ममता नहीं होती। प्राणीपदार्थोंमें मेरेपनका भाव ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाला होता है। भक्त इस मेरेपनके भावसे सर्वथा रहित होता है—यहाँतक कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रति भी उसके अंदर सर्वथा ममताका अभाव रहता है।

साधक जबतक इन मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको अपना मानकर शुद्ध करनेकी चेष्टा करेगा, तबतक उसे देरी लगेगी; क्योंकि इन्हें अपना मानना ही सबसे बड़ी अशुद्धि है। भगवान्‌ने पाँचवें अध्यायके ११वें श्लोकमें 'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि' पदोंसे 'ममतारहित इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीरसे अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगी साधन करते हैं' यह बताया है।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें, तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ५३वें श्लोकमें 'निर्ममः' पद इसी भावमें आया है।

निरहंकारः—अहंकारसे रहित।

भक्त अपने शरीरके प्रति अहंबुद्धिसे सर्वथा रहित होता है। भक्तमें श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण रहते हुए भी उसको वे अपने गुण नहीं प्रतीत होते; क्योंकि भक्तमें अवगुण तो रहते नहीं एवं गुणोंको दैवी सम्पत्ति होनेसे वह देव (भगवान्) के ही मानता है—

'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।'

(रा० च० मा०, अयोध्या०, १३० । १½)

सत्—परमात्माके होनेके कारण ही श्रेष्ठ गुण 'सद्गुण' कहलाते हैं; ऐसी दशामें भक्त उन्हें अपने कैसे मान सकता है। इसलिये वह सर्वथा अहंकारसे रहित होता है। अपनेमें अहंकार न रहनेसे और केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध रहनेके कारण उसके अन्तःकरणमें दिव्य गुण आ जाते हैं; किंतु भक्त सर्वथा अहंकारसे रहित होता है।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें भी 'निरहंकारः' पद शरीरके प्रति अहंकारके सर्वथा अभावका द्योतक है।

समदुःखसुखः—सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम।

भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है, अर्थात् सुख-दुःख उसके हृदयमें राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

भगवद्गीतामें 'सुख-दुःख' पद (१) सुख-दुःखकी सामग्रीके, अर्थात् जो सुख-दुःख (हर्ष-शोक) उत्पन्न करनेमें हेतु हैं, उनके लिये तथा (२) अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःख अर्थात् हर्ष-शोकादि विकार दोनोंके लिये आया है। दूसरे अध्यायके १५वें तथा ३८वें श्लोकोंमें; इसी अध्यायके १८वें श्लोकमें और चौदहवें

अध्यायके २४वें श्लोकमें 'सुख-दुःख' पद सुख-दुःखकी परिस्थितिके लिये आया है और पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'सुखदुःखसंज्ञैः' पद अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये आया है।

सुख-दुःखकी परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही बाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका भाव यही है कि भगवान्‌का भक्त अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य होता है। भक्तके भी शरीर, इन्द्रियों, मन और सिद्धान्तके अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ और घटनाओंका संयोग होगा तो उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान भी होगा। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि किसी वस्तुका ज्ञान होना दोष नहीं है, किंतु उससे अन्तःकरणमें विकार होना ही दोष है। भक्तको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होते हुए भी किसी भी परिस्थितिमें उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होंगे। वह हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। उदाहरणार्थ—प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें रोग होनेपर शारीरिक पीड़ारूप दुःखका ज्ञान तो भक्तको होगा, किंतु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

क्षमी—क्षमावान् है।

अपना कैसा भी अपराध करनेवालेको उसे किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर, क्षमा कर देनेवालेको 'क्षमी' कहते हैं।

भगवान्‌ने भक्तके लक्षणोंमें 'अद्वेष्टा' पद देकर अपने प्रति अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव तो बतला दिया; यहाँ 'क्षमी' पदसे उस अपराधका उसे किसी प्रकारका दण्ड भी न मिले, यह भाव दिखलाया है।

भगवान्‌के द्वारा अथवा किसी औरके द्वारा भी उसे दण्ड न हो जाय, भक्तका ऐसा क्षमाभाव रहता है। ऐसा क्षमाभाव भक्तियोगीकी एक विशेषता है।

योगी—परमात्मामें जुड़ा हुआ है।

भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है। जो नित्य-निरन्तर परमात्मासे जुड़ा हुआ है, अर्थात् जिसका कभी किसी अवस्थामें परमात्मासे वियोग होता ही नहीं, वह 'योगी' है।

'समत्वं योग उच्यते' (गीता २। ४८) 'समताका नाम ही योग है।' भक्तमें समता स्वाभाविक ही रहती है। उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक कभी होते ही नहीं। इसलिये भी उसे 'योगी' कहा जाता है।

सततम् संतुष्टः—निरन्तर संतुष्ट है।

जीवको मनोऽनुकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोगमें एवं मनके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके वियोगमें संतोष होता है; किंतु यह संतोष विजातीय पदार्थोंसे होनेके कारण स्थायी नहीं है। नित्य रहनेवाले जीवको नित्य परमात्माकी प्राप्तिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है। भक्त भगवान्‌को प्राप्त होनेसे नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि भगवान्‌से उसका कभी वियोग होता ही नहीं एवं संसारकी उसे आवश्यकता ही नहीं रहती, अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं। इस संतुष्टिके मिलनेसे उसके हृदयमें संसारके किसी भी पदार्थके प्रति यत्किंचित् भी महत्त्व-बुद्धि नहीं रह जाती—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

'संतुष्टः' के साथ 'सततम्' पद देकर भगवान्‌ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषका लक्ष्य कराया है, जिसमें कभी अन्तर पड़ता ही नहीं और कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना भी नहीं। ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—किसी भी योगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि निरन्तर रहती है।

दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पदसे कर्मयोगीकी, तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें

'आत्मन्येव च संतुष्टः' पदसे ज्ञानयोगीकी, छठे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'आत्मनि तुष्यति' पदसे ध्यानयोगीकी और इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'संतुष्टः' पदसे भक्तयोगीकी निरन्तर संतुष्टिका वर्णन हुआ है।

सिद्धभक्तमें स्वाभाविक निरन्तर संतोष रहता है, जब कि साधक संतोष करनेकी चेष्टा करता है। चौथे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' पदसे एवं दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'तुष्यन्ति' पदसे साधकके लिये संतुष्ट होनेकी बात कही गयी है।

यतात्मा—मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए।

मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर जिसका पूरा अधिकार हो, उसे 'यतात्मा' कहते हैं। सिद्ध भक्तियोगीको मन-बुद्धि आदिको वशमें करना नहीं पड़ता, बल्कि ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। इसलिये उसमें किसी प्रकारके दुर्गुण-दुराचार आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही मर्यादापर चलनेके लिये ही हैं, किंतु संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ) मार्गच्युत होती हैं। भक्तका संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध यत्किंचित् भी न रहनेसे उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें होती हैं।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय और नीतिपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कुमार्गपर नहीं जातीं। उदाहरणार्थ, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है न कि ब्राह्मण-बालिका; जैसा कि ऋषि-बालकोंने उन्हें बतलाया था। कविशिरोमणि कालिदासके अनुसार सत्पुरुष इस विश्वासमें अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं—'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'। जब न्याय और नीतिपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती तो फिर जो सिद्धभक्त न्याय-धर्मसे कभी किसी अवस्थामें च्युत हो ही नहीं सकता, उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ दुर्मार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं? भगवान्ने इसी भावको 'यतात्मा' पदसे कहा है।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'यतात्मानः' पद सिद्ध ज्ञानी महात्माओंके लक्षणोंमें आया है और इसी अध्यायके ११वें श्लोकमें 'यतात्मवान्' पदके द्वारा साधकोंके लिये मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

दृढनिश्चयः—मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है।

ज्ञानमार्गीके अन्तःकरणमें अपने सहित संसारका अत्यन्त अभाव रहता है। इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष रहता ही नहीं। भक्तिमार्गीका केवल भगवान्के साथ ही नित्य सम्बन्ध रहता है। अतः उसका भी भगवान्में ही दृढ़ निश्चय होता है। बुद्धिमें जहाँ भी विपर्यय और संशयरूपी दोष रहते हैं, वे सब संसारकी सत्ता या संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही होते हैं। विपर्यय और संशयवाली बुद्धिमें स्थिरता नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानीको देखा जाय तो उनकी बुद्धिमें ही अन्तर रहता है, स्वरूपसे तो दोनों एक ही हैं। अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका महत्त्व और भाव रहता है, किंतु सिद्धभक्तके लिये एक भगवान्के सिवा संसारकी किसी भी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और उसके प्रति आदर-बुद्धि नहीं रहती। अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है, उसका एक परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है।

दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञः' और 'स्थितधीः' पद, ५५वें श्लोकमें 'स्थितप्रज्ञः' पद तथा ५६वें, ५७वें, ५८वें, ६१वें और ६८वें

श्लोकोंमें 'प्रजजा प्रतिष्ठिता' पद; 'स्थितधीः' पद; पाँचवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद तथा २०वें श्लोकमें 'स्थिरबुद्धिः' पद और इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'स्थिरमतिः' पद सिद्ध महापुरुषोंमें स्वतः रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध कराते हैं।

दूसरे अध्यायके ४१वें तथा ४४वें श्लोकोंमें व्यवसायमात्विका बुद्धिः' पद, सातवें अध्यायके २८वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें दृढव्रताः' पद तथा उसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'सम्यग्व्यवसितः' पद साधकमें रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध करानेके लिये आये हैं। इस दृढ़ निश्चयकी भगवान्‌ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर बड़ी प्रशंसा की है।

मयि अर्पितमनोबुद्धिः—मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला।

जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्देश्य बना लेता है, तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्‌में लग जाते हैं—'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (गीता ८।७)। फिर सिद्धभक्तके मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है एवं जिसको सिद्धान्ततः श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही बुद्धि लगती है। भक्तके लिये भगवान्‌से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ नहीं है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' (गीता ७।१७)

अतः उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्‌में लगे रहते हैं।

यः=जो,

मद्भक्तः—भक्तिमार्गसे प्राप्त हुआ मेरा भक्त है।

इसी अध्यायके १६वें श्लोकमें भी 'मद्भक्तः' पद इसी भावमें आया है।

नवें अध्यायके ३४वें और अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकोंमें 'मद्भक्तः' पदसे साधकको भक्त बननेकी आज्ञा दी गयी है।

सातवें अध्यायके २३वें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद, नवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें, १३वें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद और अठारहवें अध्यायके ६८वें श्लोकमें 'मद्भक्तेषु' पद साधक भक्तके वाचक हैं।

चौथे अध्यायके ३रे श्लोकमें 'भक्तः' पद अर्जुनको अपना भक्त घोषित करनेके लिये आया है। सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें, 'भक्तः' पद देवताओंके भक्तोंके लिये आया है।

सः=वह,

मे प्रियः—मुझे प्रिय है।

यद्यपि भगवान्‌को तो सभी प्रिय हैं, तथापि भक्तका प्यार भगवान्‌के सिवा और कहीं नहीं होता। केवल भगवान्‌में ही होता है। ऐसी दशामें 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' (गीता ४।११) की—इस प्रतिज्ञाके अनुसार भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा है।

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके १४वें, १६वें, १७वें और १९वें श्लोकोंमें 'प्रियः' पद सिद्धभक्तोंका वाचक है।

इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'प्रियाः' पद साधक भक्तोंके लिये आया है।

नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके ४४वें श्लोकमें और सत्रहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'प्रियः' पद साधारण प्यार और रुचिके विषयको बतलाता है।

दसवें अध्यायके १ले श्लोकमें 'प्रीयमाणाय' पदसे अर्जुनको अपना प्यारा बताया गया है।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

शारीरिक सुख एवं नामकी चिन्तासे सर्वथा उपराम हो जाइये ।

बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि इस जीवन-को प्रभुके चरणोंमें समर्पित करना है; इसीमें इस जीवन-की सार्थकता है । अतिशय गम्भीरतासे विचारना चाहिये कि भोगोंमें सुख नहीं; हमें सुख दीखें भले ही, पर इनमें सुखकी गन्ध भी नहीं है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।'
(गीता ५ । २२)

इस प्रकार बार-बार विचार करके मन जिस-जिस विषयकी ओर जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर नित्य आनन्दमय प्रभुमें लगाना चाहिये । दो बातका मोह मनुष्यको अधिक होता है—पहला शारीरिक सुखका एवं दूसरा नामका । शरीरको मनचाहा आराम मिलता रहे एवं लोगोंमें मेरा खूब सम्मान हो, खूब आदर हो—ये दो मोह परमार्थ-के मार्गमें बढ़नेवाले पुरुषोंमें भी देखे जाते हैं । पर यदि सचमुच हमलोग थोड़ा विचार करें तो यह ठीक पता चल सकता है कि कितनी अनित्य एवं असार वस्तुके लिये हमलोग दुर्लभ मनुष्य-जीवन बर्बाद करते हैं । थोड़ी देरके लिये मान लें—आपकी लोगोंमें खूब प्रसिद्धि हुई लोगोंने आपकी बड़ी तारीफ़ की, आप बड़े इज्जतदार समझे जाने लगे; विवाह-शादीमें ये बड़े खुले दिलसे खर्च करते हैं—इस प्रकार लोगोंने वाह-वाही की; ये बड़े विद्वान् हैं, व्यवहारकुशल हैं—इस प्रकार जहाँ भी जायँ, वहीं प्रशंसा हो; उससे आप भी प्रसन्न हो सकते हैं । लेकिन सोचें—वस्तुतः आपके नामकी तारीफसे आपका क्या बनता है । इसके पहले अनन्त जन्मोंमें अनन्त नाम आपके हो गये हैं । पता नहीं, आपका कितना सुयश गाया जा चुका है, पर आज आपको उनकी स्मृति भी नहीं है । इसी प्रकार मृत्यु इस नामसे भी आपका सम्बन्ध अवश्य ही तोड़ देगी और उस समय आप सर्वथा इस नामको भूल जाइयेगा । शरीरकी भी यही दशा है । इसे कितना भी आरामसे रखिये, पर इससे सम्बन्ध टूटना अनिवार्य है । इसके पहले भी तो शरीर था और वह छूटा था । वह सुखसे था अथवा दुःखसे था, इस बातको लेकर अब आपको चिन्ता नहीं होती । इसी तरह इस शरीरकी भी इसके छूटनेके बाद सर्वथा विस्मृति हो जायगी । अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि इन दोनों वस्तुओंसे मन हटाया जाय ।

नाम-रूपके मोहकी परिस्थिति संसारमें सभीके सामने आती है । आपके सामने भी ऐसी परिस्थितियाँ आती होंगी, जिससे आप चिन्तित होते होंगे कि अब तो इज्जत गयी तथा खाने-पीनेको भी नहीं रहेगा । आर्थिक प्रश्नको लेकर आपके मनमें इस प्रकारकी चिन्ता होनी सम्भव है । तथा कुछ देरके लिये ही सही, भजनको गौण बनाकर, इज्जतकी रक्षा एवं शरीर-निर्वाहको मुख्यता देकर उसके लिये चेष्टा करते होंगे । पर इन परिस्थितियोंकी उपेक्षा करें । इनमें जरा भी सार नहीं है । बस, जैसा भगवान्ने रच रखा है, वह हो जायगा—ऐसा दृढ़ निश्चय एवं विश्वास करके इनसे सर्वथा उपराम होकर आत्माके कल्याणमें मन लगाना चाहिये ।

प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार करें ।

जगत्के बहुत थोड़े प्राणी भगवान्की दया चाहते हैं । वे चाहते हैं—अनुकूलता । लेकिन यह बात निरन्तर ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्की दया अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों अवस्थाओंमें रहती है । जो केवल अनुकूलता चाहते हैं, वे भगवान्की आधी, आंशिक,

असम्पूर्ण दयाका ही ग्रहण चाहते हैं। अतः बुद्धिमानी इसी बातमें है कि प्रियतम भगवान्‌की भेजी हुई प्रत्येक अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार किया जाय। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि भगवान् जब निश्चय दया-ही-दया करेंगे, तब हम उनके प्रत्येक विधानके सामने अपना सिर झुका दें। ऐसी बात आचरणमें आ जानी अवश्य ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर ऐसा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। वे दयामय हैं; यदि हमारी नीयत शुद्ध हो तो वे अपनी दयासे अवश्य ऐसा आप बना देंगे।

जहाँतक बने, भगवान्‌का अधिक-से-अधिक नाम लेते रहें। यह अगर होता रहा तो साधन-पथपर अपने-आप बढ़ जाइयेगा। भगवान्‌के नामकी महिमा अनन्त, अपार है।

भगवान्‌का नाम लेते जाइये।

एक लोहा पूजामें राख्यौ, एक घर बधिक परौ।
पारस गुन-अवगुन नहीं चितवै, कंचन करत खरौ॥

इस पदके अर्थपर विचार कीजिये—पारस स्पर्श होते ही लोहेको सोनेमें बदल देता है; वह यह नहीं देखता कि अमुक-अमुक लोहा कहाँ-कहाँ किस-किस उपयोगमें आ रहा है। भगवान्‌के नामकी उपमा पारस-से दी जाती है, पर मेरी समझमें यह उपमा भगवान्‌के नामके लिये सर्वथा तुच्छ है; क्योंकि पारस जड पत्थर है तथा भगवान्‌का नाम चिन्मय है। दूसरे नाम और नामीमें अभेद है। यद्यपि यह बात बहुत आगे चलकर समझमें आती है, तथापि सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि आपके मुखसे निकलता हुआ प्रत्येक नाम आपको भगवान्‌से संयुक्त करा देता है। बीचके कुछ आवरण रहनेके कारण ही भगवान्‌के स्पर्शका अनुभव नहीं होता। लोहेका एक गोला पारसको स्पर्श तो करता है, पर लोहेके गोलेपर मिट्टीका पर्दा पड़ा हुआ है, प्रत्येक रगड़में मिट्टी छिलकर गिर रही है। शुद्ध लोहेके एक कोनेको भी मिट्टीरहित होकर निकलने दीजिये, फिर तत्क्षण लोहा सोना हो जायगा। अर्थात् नामस्मरणसे आपके अन्तःकरणका मल झड़ रहा है, शुद्ध हुए अन्तःकरणसे जिस दिन एक नामका भी स्पर्श हुआ कि भगवान् सामने आ जायँगे। अतः लेते जाइये भगवान्‌का नाम और बिना किसी घबराहटके बढ़ चलिये। प्रभु सहायक हैं।

सब प्रकारसे भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिये।

भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये; फिर जो हो, कोई चिन्ता नहीं। भगवान् मङ्गलमय हैं, मङ्गल ही करेंगे। मान लें, आप बीमार चल रहे हैं और आपके मरनेमें कल्याण है तो आप कभी भी नहीं बच सकते। यदि जीवनदान मिलनेसे आपके जीवनमें सुधार होना ही संभव होगा तो भगवान् आपकी प्रार्थना अवश्य सुन लेंगे। उस अवस्थामें एक मारकेश क्या, लाखों मारकेश उनकी दयासे टल जायँगे और आपकी आयु बढ़ जायगी। उनकी दयाके बिना उनके विधानमें कोई भी हेर-फेर नहीं हो सकता। अतः सब प्रकारसे उनकी शरणमें जाना चाहिये।

प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है।

बहुत बार आपके मनमें यह बात आती होगी—'यह मेरा कर्तव्य है, इसका पालन करना हमारा धर्म है; अमुक हमारा पुत्र है, इसको सुयोग्य बनाना हमारा धर्म है; हमारे ऊपर इतने प्राणी अवलम्बित हैं, उन सबका भार हमारे ऊपर है—इस प्रकार कर्तव्यपालनकी चिन्ता मनको अशान्त तथा भजनको गौण बनाती होगी। पर कर्तव्यपालनकी चिन्तासे भजनको गौण बनाना भारी भूल है। यह निश्चय समझें कि प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है, उसे आप घटा-बढ़ा नहीं सकते। अतः उसके लिये चिन्तित होना भूल है। आपका काम इतना ही है कि आप अपनेको निमित्त

बनाकर सर्वथा शान्तचित्तसे सबके लिये हितमूलक चेष्टामात्र करें। होगा तो वही, जो भगवान्‌का रचा हुआ है—

'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'

'रचि राखा' से गोस्वामीजीने स्पष्ट बता दिया है कि सब कुछ पहलेसे तैयार रहता है। 'फिल्म' की तरह रील घूमनेकी देर है। रील घूमते ही दृश्य सामने आ जायगा।

भगवान्‌के यहाँ अवश्य सुनाई होती है।

सत्सङ्ग करनेसे मनुष्यको थोड़ी या बहुत अवश्य शान्ति मिलती है। अधिक लाभ होना श्रद्धापर निर्भर करता है। श्रद्धा जिस दिन पूरी हो जायगी, उसी दिन भगवान्‌की दया एवं भगवान्—दोनों ही प्रत्यक्ष हो जायँगे। दयामयसे प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो! मेरे अन्तःकरणमें विशुद्ध दया एवं प्रेमका संचार कीजिये।' वे अतिशय दयालु हैं। भक्तको कभी निराश नहीं करते। उनके यहाँ विलम्बसे या जल्दी अवश्य सुनाई होती है।

पुरुष और नारी

(लेखक—श्रीरामचावजी 'सुमन')

समस्त मायिक सृष्टि कामना-जनित है; क्योंकि वह ब्रह्ममें कामनाके स्फुरणसे उत्पन्न हुई है। यह कामना सृष्टिमें अनेक रूपोंमें प्रकट है। जीवमात्रमें जो स्त्री-पुरुषका भेद है, वह भी मूलतः इसी कामनाका प्राकृतिक स्थूलीकरण है।

स्वभावतः यह कामना हेय नहीं है; इसका भी एक तात्पर्य है, एक अर्थ है। परंतु यह सार्थकता कामनाके प्रसारमें नहीं, मूल स्रोतके लिये उसकी व्याकुलतामें है। संस्कार, शिक्षा, ज्ञान और साधनाके स्तरके अनुसार यह व्याकुलता, मानव-मन तथा उसके बाद मानव-समाजमें अनेक रूपोंमें प्रकट होती है।

प्रत्येकके जीवनमें एक ऐसा समय आता है, जब कामना घनीभूत हो उठती है। कोई हमारे बंद कपाटकी कुंडी खटखटाता है, मन शत-शत आकाङ्क्षाओंसे पूर्ण हो उठता है। ऐसा लगता है कि मरुभूमिमें वसन्त आ गया हो। प्यार करने और प्यार किये जानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। लगता है कि यह उभरता हुआ, यह उमड़ता हुआ जीवन अकेले अपने लिये नहीं है। मन एकान्तमें कहता है 'यदि मेरे साथ कोई और होता।'

यह एक-से दो और फिर दो-से एक हो जानेकी इच्छा शाश्वत है। पहलीसे संसार बनता है और दूसरीसे उसका तिरोधान हो जाता है। पहलीसे केन्द्रसे परिधि छूटती है, दूसरीसे परिधि केन्द्रमें विलीन हो जाती है। यही जगत्‌के भोग एवं जगत्‌के भोगसे मोक्ष दोनोंका रहस्य है।

मानवमें-जगत् भी है और जगत् जहाँसे उद्भूत होता है, वह प्रकाश बिन्दु भी है। जगत्‌में रहकर भी क्रमशः जगत्‌को निरस्त करना भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है। इसी उच्च भूमिकाने जीवनके कर्दमसे कमल खिलाया था और भोगका समाहार भी त्यागमें हो जाता था।

यही भारतीय दाम्पत्यका आदर्श रूप है—शिवमें शिवानीका आविर्भाव शिव-शिवानीके एकत्व-बोधसे परम शिवताकी प्राप्ति।

इसीलिये हमारा गृहस्थ-जीवन क्रमशः उच्चतर कक्षाओंकी ओर निरन्तर यात्रासे पूर्ण है। यह मानव-धर्मकी पूर्तिके लिये है; यदि भोग है तो वह भोगके लिये नहीं, वह भी त्यागोन्मुख है। प्राचीन भारतीय आश्रम-व्यवस्था प्रेयसे उत्तरोत्तर श्रेयकी यात्रा है। पुरुष और नारी श्रेयकी इस यात्रामें एक-दूसरेके साथी हैं; दोनोंका उद्देश्य एक-दूसरेको सहारा देते हुए गन्तव्यकी ओर ले चलना है। इस यात्रामें नारी पुरुषकी शक्ति है; उसके हृदयमें अपनी सेवा, स्नेह और प्रेमसे श्रद्धा जगानेवाली प्रेरणा है।

स्पष्टतः हमारी संस्कृतिके उच्च स्तरपर नारी पुरुषकी भोग्या नहीं है, वह उसको मोक्षकी ओर ले जानेवाली है। गृहस्थ-जीवनमें भी उसीने पातिव्रतधर्मका आविष्कार किया था। आज लोग उसपर चौंकते हैं, नाक-भौं सिकोड़ते हैं; परंतु पातिव्रतधर्मका अर्थ पतिकी अधीनता नहीं है; वह पतिके शारीरिक जीवनतक समाप्त नहीं हो जाता; वह पतिके

व्यक्तित्वके ऊपर है; वह मिट्टीमें देवत्वकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न है। पतिकी आज्ञासे भी जिस पातिव्रतको तिरस्कृत या अमान्य नहीं किया जा सकता, जो पतिके होते हुए भी है और पतिके पश्चात् भी है, वही है यह पातिव्रत। इसमें पति आलम्बन मात्र है; केन्द्रबिन्दु है मानवमें मानवातीतको, परमाशक्तिको, परमाराध्यको, मोक्षको देखने और पानेकी भावना।

ऐसी महान् प्रेरणाओंपर आश्रित हमारी जीवन-यात्रा आज विशृङ्खल है। गन्तव्य भूल गया है, आदर्श तिरस्कृत है, आत्मस्मृति विस्मृत है। मानवमें जो पशु है, चतुर्दिक् उसीका अट्टहास सुनायी पड़ता है।

आज विश्वमें नारीकी स्वतन्त्रताका स्वर प्रखर हो उठा है। भारतकी शिक्षित नारियोंमें भी पश्चिमकी देखा-देखी स्वतन्त्रताकी माँग प्रबल होती जा रही है। पश्चिममें, और यहाँ भी, अपनेको प्रबुद्ध कहने और माननेवाली नारीका कहना है कि पुरुषने सदा नारीको अपनी वासनाओं-की पूर्तिके लिये अपने अथवा अपने बनाये बन्धनोंमें जकड़ रखा है। आजकी सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति, समस्त धर्म पुरुष-निर्मित हैं; इनके विरुद्ध विद्रोह करना ही नारीके लिये इष्ट है। वे कहती हैं कि आजके शृङ्गार-युक्त परिधान—कञ्चुकी आदि—भी पुरुषकी तृप्तिके साधन हैं। पुरुष ही नारीको नाना रूपोंमें सजाकर उसे अपने खेल और नयन-रञ्जनके लिये रखता है।

नारी-स्वातन्त्र्यका आन्दोलन पश्चिममें हास्यास्पद सीमाओंतक बढ़ता जा रहा है। अभीतक हमारे देशमें यह स्थिति नहीं है; किंतु उसे ले आनेकी चेष्टा यहाँ भी शुरू हो गयी है। माना, बहुत-सी स्त्रियाँ इतनी दूरतक जानेके पक्षमें नहीं हैं, पश्चिममें भी नहीं हैं; किंतु आज विश्वमें होनेवाले अधिकांश आन्दोलन नारेबाजीके तूफानी शिखरपर आरूढ़ हैं और प्रतिक्रियाएँ इतनी तीव्र हैं कि प्रबुद्ध मानव भी स्तब्ध होकर देखता रह जाता है और उसके पैरों-तलेकी भूमि डगमगाने लगती है। आज नियन्ता मानव नियतिका दास बना किंकर्तव्यविमूढ है और लहरें उसे बहाये लिये चली आ रही हैं।

माना, मानव-विकासके लंबे युगोंके बीच नारीपर अत्याचार भी हुए होंगे, परंतु इसलिये नहीं कि नारी नारी थी, बल्कि इसलिये कि काल-विशेष, समाज-विशेष या पुरुष-विशेषमें तामसिक या हीन वृत्तियाँ प्रबल हो गयी होंगी। मानवमात्रमें, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उच्च प्रेरणाएँ भी होती हैं और निम्न वृत्तियाँ भी होती हैं। मानवमें देव और पशुका मिलन होता है और इसी पशु-बिन्दुसे देव-बिन्दुकी यात्रा मानव-धर्म है। यह तथ्य पुरुष और नारीपर एक-सा लागू है। दोनों बुरे हो सकते हैं, दोनों भले हो सकते हैं। या ऐसा भी हो सकता है कि एक पुरुष बुरा हो और नारी भली हो, या नारी बुरी हो और पुरुष भला हो। किंतु ऐसा नहीं हो सकता कि सब पुरुष बुरे हों या सब स्त्रियाँ बुरी हों। इसलिये मानव-समाजमें व्यक्ति-व्यक्तिके अनुभव या प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। एक-सी प्रतिक्रिया सर्वत्र हो, यह असम्भव है। इसलिये ऐसे समस्त आन्दोलन विवेकशून्यताकी घोषणा करते हैं। किसी भी स्थितिमें यह तथ्यकी बात है, कल्पनाकी नहीं कि पुरुष और नारी दोनों दोनोंके लिये हैं और दोनोंके सहयोग, न कि प्रतियोगितासे जीवनका प्राप्य मिल सकता है।

कहा तो यह जाता है कि नारीको पुरुषकी भोग्या बननेसे इन्कार कर देना चाहिये। हमारी संस्कृति तो आरम्भसे ही इसी दृष्टि-बिन्दुपर अपने ढंगसे चल रही है। पुरुष हो या नारी, दोनोंकी ही सार्थकता हमारे यहाँ भोगमें नहीं है। हमारा समस्त सामाजिक गठन भोगसे त्यागकी ओर जानेमें है, प्रेयसे श्रेयकी ओर जानेमें है, असत्से सत्की ओर जानेमें है, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर जानेमें है। केवल शरीर, केवल जगत्की दृष्टि जहाँ है, वहीं अधिकाधिक भोगकी भावना है; क्योंकि सम्पूर्ण जागतिक सिद्धियाँ भोगके लिये हैं और भोगमें समाप्त होती हैं। आजकी सभ्यता भौतिक सुविधाओं और समृद्धियोंकी सभ्यता है। इसीलिये आजका मानव अधिकाधिक द्रव्य प्राप्त करने और अधिकाधिक ऐहिक सुख प्राप्त करनेके लिये पागल है। एक ऐहिक सुखसे दूसरे ऐहिक सुखकी वासनाका होना स्वाभाविक है। वासना जब वासनाको लेकर और उसीके लिये होती है, तब वह निरन्तर अपनेको गुणित करती चलती है—यहाँतक कि मानव उसका इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसके बिना रह नहीं पाता और चतुर्दिक् उसीके जालमें छटपटाता रह जाता है। वह छटपटाता है, किंतु उसे छोड़ नहीं पाता, उससे निकल नहीं पाता।

यह स्त्री-पुरुष-भेदके कारण नहीं है। यह दृष्टि-भेद, दृष्टि-दोषके कारण है। हमने एक झटकेमें आत्म-भावको, मानवकी दिव्यताको दूर फेंक दिया है और मानवमें जो पशु है, केवल उसीको स्वीकार कर लिया है। यह पशु प्रतिक्षण पुष्ट किया जा रहा है; हम सब उसे प्रबल और सर्वजयी करनेमें लगे हुए हैं। कुम्भकर्ण जगा दिया गया है और उसकी कभी न बुझनेवाली भूखकी तृप्तिके लिये हम अपनी आहुति दे रहे हैं। आहुति देनेवाले हमीं हैं और गालियाँ देनेवाले भी हमीं हैं। इसीलिये हम जितना चीखते-चिल्लाते हैं, उतनी ही तेजीसे वासनाएँ हमें निगलती जा रही हैं।

आजके सभ्य जीवनका परिवेश क्या है? उच्च सभ्य समाज-का जीवन क्या है? उसका मानदण्ड क्या है? बँगला हो, कार हो, आधुनिक गृह-सज्जा हो, (गृहिणी नहीं) प्रेयसी हो, बैंक बैलेंस हो, प्रचुर आहार-सामग्री हो—आहारमें भी सब प्रकारके आमिष हों (अंडेसे लेकर मुर्ग-मुसल्लम-तक), टेबलपर बढ़िया मदिरा हो, क्लब, पार्टियाँ, डांस, हाई एंटरटेनमेण्ट। हमारे वातावरण और परिवेशमें ही भोग है, भोगकी अधिकाधिक स्पृहा है—यहाँतक कि यह सब सभ्य जीवन-क्रमके लिये अपरिहार्य हो गये हैं। हमारा रहन-सहन, हमारा खान-पान, हमारा वस्त्र-विन्यास, हमारा साहित्य, हमारा मनोरञ्जन—सब मानवमें सुप्त पशुकी खुराक हैं। जब प्रतिक्षण हम पाशविक वासनाओंको हव्य देनेमें लगे हुए हैं, तब सहसा नारीके भोग्या होनेसे इन्कार करनेकी बातपर आश्चर्य होता है।

दूसरी ओर उन कोटि-कोटि नारियोंको देखिये, जिन्हें हम असंस्कृत, असभ्य कहते हैं—ग्रामीण नारी। जितना ही वहाँ यह सभ्यताकी प्यास कम है, उतना ही उसका जीवन अपेक्षाकृत शान्त, संतुष्ट और स्वतन्त्र है। वह आवश्यकता पड़नेपर जीविकोपार्जन कर सकती है क्या करती ही है और जीवनकी यात्रामें अपने पतिकी गुलाम नहीं, साथी है और सचमुच अधिक बोझ उठानेवाली है। सभ्यताका दम भरनेवाली नारियोंकी अधिकांश संख्या पुरुष-निर्भर, अपने बड़प्पन, शौक और कामनाओंकी पूर्तिके लिये पुरुषको पतनकी ओर ढकेलनेवाली, अपने उच्च जीवन-व्ययके लिये पुरुषोंको चापलूसी, रिश्वत, अनागरिक और अराष्ट्रीय तथा अनैतिक आचरणोंकी ओर प्रेरित करनेवाली है। वह चाहे स्वतन्त्रताकी जितनी भी आवाज उठाये, दिन-दिन पुरुषोंपर निर्भर, अतः उनकी भोग्या ही बननेवाली है। पुरुष-हृदयमें वासनाओंकी बत्ती जलाकर अन्तमें वह गृहको जलाकर राख ही करेगी।

भारतीय संस्कृति तो 'स्व' और 'स्वतन्त्रता'की ही संस्कृति है। वह कामनाओंके प्रसारके मानदण्डपर कभी खड़ी नहीं हुई। परंतु मानवकी वास्तविक स्वतन्त्रताका प्रश्न उसकी मनोभूमिकासे जुड़ा हुआ है। जबतक वह पशुतासे देवत्वकी ओर पग नहीं बढ़ाता, उससे कामनाओंपर नियन्त्रण रखने और कामनाओंको भी किसी उच्चतर अभिप्रायके प्रति समर्पित करनेकी आशा नहीं की जा सकती। कामनाओंकी वृद्धिके साथ अपने श्रेष्ठ 'स्व'पर काबू नहीं रखा जा सकता; कामनाओंके प्रसारका पथ पराजयका, परतन्त्रताका पथ है, स्वतन्त्रताका नहीं। इच्छाओंके प्रसार और उनकी पूर्तिकी निरन्तर कर्म-चेष्टामें मानव भौतिक शक्तियोंको अर्जित करता है; परंतु भौतिक समृद्धि मानवको स्वतन्त्र नहीं बनाती, अपने प्रत्येक चरणमें अपने 'स्व' का और इसीलिये 'स्वतन्त्रता'का भी क्षरण करती चलती है।

मैं यह नहीं कहता कि हमारे यहाँ भोग था नहीं; भोग था और अवश्य था। उसका सर्वथा निषेध सामान्य स्तरके बहुसंख्यक मानवोंके लिये असम्भव होता। इसीलिये एक सीमातक उसको भी स्थान दिया गया था। किंतु उसकी व्यवस्था इस प्रकार थी कि अनुभव एवं आयुकी वृद्धिके साथ उसकी मात्रामें कमी होती जाय और तरुणाईमें भी एक ओर सदाचरण अथवा नीतिसे तथा दूसरी ओर श्रेष्ठ प्रेरणाओं-से नियन्त्रित रहे। आजकी कामज बुभुक्षाको पल्लवित-पोषित करनेवाली संतति, इक्के-दुक्के तो सदा वर्तमान रही है; परंतु जो सामूहिक काम-प्रवृत्ति आज है और सर्वत्र पोषित की जा रही है, वह कभी नहीं रही। नारी-स्वातन्त्र्य, मुक्त यौनाचार (फ्री सेक्स) इत्यादिपर भी हमारे देशमें अतीतकालमें काफी विचार किया जा चुका है और बहुत विचारके बाद उसका त्याग किया गया था। भौतिक अर्थमें जो समाजका विस्तार है, उसमें कोई पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता; अपनी स्वतन्त्रताका कुछ-न-कुछ अंश देकर ही वह समाजमें रह सकता है। समाज स्वयं व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका निराकरण है। इसलिये समाजमें रहते हुए हम पूर्णतया स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते।

तब केवल एक ही रास्ता है—समस्त भौतिक

उपलब्धियोंपर आध्यात्मिक प्रेरणाओंका नियन्त्रण । हमारी सामाजिक कल्पनामें इसीकी व्यवस्था है । नारी हो या पुरुष, उनका जीवन कुछ श्रेष्ठ उद्देश्योंके लिये है । इन उद्देश्योंका परम विन्दु है—'स्व'की साधना, 'स्व'का साक्षात्कार और समस्त भौतिक ग्रन्थियोंसे स्वतन्त्रता । न पुरुष भोग्य है न नारी भोग्या है—दोनों परमके प्रति निवेदित और मुक्त हैं। इसीलिये पुरुष क्रमशः भोगसे त्यागकी ओर बढ़ता है और अन्तमें संन्यासकी दीक्षा लेता है और इसीलिये नारी क्रमशः कुमारी, ब्रह्मचारिणी, गृहिणी, माता, वानप्रस्थी और साध्वी होती है । पुरुष-नारीके भोगमें ही नारीकी बात समाप्त नहीं हो जाती; इस भोगमें खिलती है मातृत्वकी गरिमा, प्रकट होती है जीवनकी अक्षय-धारा । नारीकी कामना मातृत्व-बोधसे, संततिका तिल-तिल करके निर्माण करनेसे नियन्त्रित हो जाती है और ग्रहणकी वृत्तिसे दानकी वृत्ति उत्पन्न होती है । यह ग्रहणपर निरन्तर दान और समर्पणकी वृत्ति नारीको पुरुषकी भोग्या नहीं बनने देती और उसे वासनाके उपशमकी ओर ले जाती है; प्रेयसीके कामना-पुञ्जमें मातृत्वके त्यागका कमल खिलता है । अपने विशद अर्थमें यह मातृत्व-बोध ही भारतीय संस्कृति है । प्रेयसीमें मातृत्वके उदयका अर्थ है कि अपने लिये जीना छोड़कर दूसरेके लिये जीनेका आरम्भ । दूसरेके लिये आदमी कब जीता है ?—जब वह दूसरेमें अपनेको देखता और पाता है । यही है—शारीरिक 'स्व'से आत्मिक 'स्व'की ओर यात्राका आरम्भ ।

आज यह उच्च भूमिका लुप्त हो गयी है; क्योंकि हमने कामना-प्रधान भौतिक उपलब्धियोंतक ही जीवनको सीमित कर लिया है । केवल कर्म-जगत्में ही नहीं, मनोजगत्में भी हम पराजित हो गये हैं । प्रेय ही हमारे लिये श्रेय हो गया है और सबसे बड़ा दुःख यह है कि हम अपनेको भूल गये हैं, अपनी उदात्त कल्पनाको भूल गये हैं, अपने समाजके उच्च अनुबन्धको भूल गये हैं और कर्म-जीवनमें ही नहीं, विचार, सिद्धान्त और आदर्शमें भी परमुखापेक्षी हो गये हैं । परतन्त्रताके लिये हाथ और पग बढ़ रहे हैं और जिह्वापर नारा है स्वतन्त्रताका ? क्या यह अपनेको पानेका नारा है ? क्या यह मुक्तिका स्पर्श है, जो क्षणभरमें सब बन्धन खोल देता है ?

दया

दया सर्वोपरि शुभ गुण है । फिर भी जब भिन्न-भिन्न गुणोंका नाम लेते हैं, तब प्रत्येक गुणकी कुछ मर्यादा मानी ही जाती है । ऐसी मर्यादा न मानें तो गुणोंके भिन्न-भिन्न नाम लेनेकी गुंजाइश ही नहीं रहेगी । किसी संतने 'दया धर्मका मूल है' कहकर तुरंत ही उसके परिशिष्टमें जोड़ दिया—'पाप-मूल अभिमान' । दयामें भी यदि अभिमान आ गया तो दया रही ही नहीं । ध्यान रहे कि 'दयाहीन दया' कहनेमें जितनी विसंगति है, उतनी ही विसंगति 'अभिमानयुक्त दया' कहनेमें भी है । अभिमानका दयासे कुछ भी नाता नहीं । अभिमानमें मनुष्य अपनेको सिरपर चढ़ा लेता है, तो दयामें अपनेको भूल जाता है ।

आजकल लोगोंको 'दया' शब्द भी कुछ नीचा (गौण) मालूम होने लगा है । उन्हें दयामें दीनता दीखती है । लोग यह भी चाहते हैं कि हमें दया नहीं, न्याय चाहिये । भगवान्के सामने अगर कोई यह कहनेवाला निकले कि 'मुझे तेरी दया नहीं, न्याय चाहिये' तो निश्चय ही भगवान्को उसपर दया आयेगी । कदम-कदमपर गलतियाँ करनेवाला, चारों ओरसे अज्ञानग्रस्त, अनन्त दोषोंसे भरा जीव किस मुँहसे भगवान्से न्याय माँगे !

कोई कह सकता है, 'ठीक है, भगवान्से हम दया माँगेंगे; लेकिन और किसीसे क्यों माँगें ? औरोंसे तो हम न्याय ही माँगेंगे ।' मैं उससे इतना ही कहूँगा कि चाहो तो दूसरोंसे न्याय ही माँगो; पर किये जाओ दूसरोंपर दया ही । उसीसे तुम्हें उचित न्याय मिलेगा !

—संत विनोबा भावे

निःस्पृह बनिये

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

हमारी अशान्तिके अनेक कारणोंमें एक प्रधान कारण हमारी इच्छाएँ हैं। प्रत्येक प्राणी अनुकूल संयोगों—साधनोंके मिलनेकी इच्छा करता है। पर इच्छानुसार वस्तु मिल जाना उसके वशकी बात नहीं है। अतः वैसा न होनेपर हमारे चित्तमें अशान्तिका साम्राज्य छा जाता है। चाहके साथ आहका सम्बन्ध लगा ही रहता है। विश्वमें किसी भी प्राणीकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं। इसका कारण यह है कि एककी पूर्ति होनेपर दूसरी इच्छा फिर आ उपस्थित होती है। इसीलिये इच्छाओं एवं आशाओंको आकाशके समान अनन्त माना गया है।

इच्छाएँ प्राणीकी भूमिकाके अनुसार होती हैं। बाह्य-दृष्टि जीवोंको सांसारिक अनुकूल पदार्थों एवं संयोगोंकी इच्छा रहती है। उनसे आगे बढ़े हुए धार्मिक पुरुषोंकी इच्छा किसी भी बुराईकी नहीं होकर यह होती है कि वह सेवा-भक्ति, ज्ञान-ध्यान आदि अच्छे-अच्छे कार्य सम्पन्न कर सके और उनसे आगे बढ़े हुए आध्यात्मिक पुरुष अपनी इच्छाओंको घटाते हुए सर्वथा इच्छारहित होनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहते हैं। वे इच्छाओंको अशान्तिका कारण मानकर प्रत्येक परिस्थिति एवं संयोगसे अथवा प्रारब्ध कर्मका जैसा कुछ फल होता है, उसीमें संतुष्ट रहते हैं। वे न तो प्रतिकूल संयोगोंको दूर करनेकी इच्छा करते हैं, न अनुकूल संयोगोंकी प्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। हर परिस्थितिमें वे सम हो जाते हैं। गीताकी शिक्षाके अनुसार वे फलाशारहित एवं हरि-इच्छाके अनुसार चलनेवाले होते हैं। जैन परिभाषाके अनुसार वे 'यथा-उदय' बर्तते हैं; पूर्व कर्मोंको भोगते हैं, नये बन्धन नहीं बाँधते।

आध्यात्मिक दृष्टिसे इच्छाका होना हमारी अपूर्णताका सूचक है। हमें किसी बातकी कमी है, अमुक वस्तु हमारे पास नहीं है, किंतु उसे हम चाहते हैं। अतः पूर्ण बननेके लिये इच्छाओंसे रहित होना आवश्यक होता है। जैन-दर्शनमें आत्माके आध्यात्मिक विकास-क्रमकी १४ गुणस्थानक श्रेणियाँ हैं। उनमें १० वीं उच्च भूमिकामें सूक्ष्म इच्छा—मोक्षकी अभिलाषामात्र रहती है, यद्यपि वह भी आगे बढ़नेके लिये त्याज्य मानी गयी है। उक्त सूक्ष्म अभिलाषा अथवा लोभसे ऊपर उठे बिना कैवल्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इससे सहज रूपसे ही पता चलता है कि अच्छी-से-अच्छी इच्छा भी अन्ततः त्याज्य ही है। पर इस स्थितिको प्राप्त होनेसे पहले साधारणतया बुरी इच्छाओंको छोड़नेका प्रयत्न करना होगा। अशुभकी परिधिसे निकलकर शुभकी परिधिमें प्रवेश कर शुद्ध बनना ही उत्थानका मार्ग है। अतः इच्छाओंको कम करते चले जाना है एवं मनमें जो विकार अथवा आसक्तिरूप विष है, उसे अमृतमें परिणत कर देना है।

साधारण मनुष्योंको खाने-पीनेकी, अच्छे-अच्छे कपड़े पहननेकी, आभूषणादि धारण करनेकी, धनकी, पुत्रकी, यशकी, बड़े बननेकी इच्छाएँ हर समय लगी ही रहती हैं। उन्हींकी पूर्तिके लिये सारा जीवन वे प्रयत्न करते रहते हैं। मरनेके पश्चात् भी ये इच्छाएँ उनका पिण्ड नहीं छोड़तीं। कुछ बातोंकी अपूर्ण इच्छाओंको लिये हुए ही उन्हें देह छोड़ना पड़ता है। कुछ समय और जीकर इनकी पूर्ति कर ली जाय, यही इच्छा उन्हें बनी रहती है; पर इसमें उनकी विवशता होती है। इन्हीं इच्छाओंके तन्तुओंसे उनकी भव-परम्परा बढ़ती चली जाती है।

मध्यम श्रेणीके व्यक्ति साधारण इच्छाओंको कम कर देते हैं और अपनी इच्छाओंको सत्कर्मोंकी ओर लगा देते हैं। उनकी इच्छा होती है कि उन्हें सन्मार्गके दर्शक गुरु मिलें, उनके तन-मन-धन परोपकार एवं सेवामें लगें, उन्हें महात्माओंके दर्शन एवं सत्सङ्गादिका लाभ मिले, उनकी बुद्धि निर्मल रहे। उन्हें प्रभु-भक्तिका अवसर मिले, शास्त्र-श्रवण एवं महात्माओंके प्रवचन सुननेमें उनका चित्त लगा रहे। अर्थात् सांसारिक एवं शारीरिक सुखकी इच्छाओंसे ऊपर उठकर वे आत्माभिमुख होते हैं। जगत्के जीवोंके कल्याणकी वे कामना करते हैं। वास्तवमें मनुष्यता यहींसे प्रारम्भ होती है। उसके पहलेकी अवस्था तो पशुओंकी-सी है। उन बेचारोंमें ज्ञानकी कमीके कारण इच्छाएँ बहुत थोड़ी होती हैं। मनुष्यमें उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, पर उनकी बहुत-सी इच्छाओंकी कोटि पशुओंके स्तरकी-सी ही होती है।

इनसे आगे बढ़े हुए निःस्पृह उत्तम पुरुष संख्यामें बहुत ही कम होते हैं। वे ही महान् कहलाते हैं। वे इच्छामात्रको बन्धन एवं अशान्तिका कारण मानकर उससे अतीत होनेका प्रयत्न करते हैं। उन्हें किसी भी बातकी चाह नहीं होती। जब जैसा

मिल गया, खा लिया, पहन लिया; नहीं मिला तो भूखे एवं नंगे ही रह गये। किसीने आदर किया तो ठीक; किसीने निरादर किया तो भी ठीक। जब ऐसी चाहरहित स्थिति हो जाती है, तब फिर अनायास ही बहुत-सी वस्तुओंका संयोग उन्हें प्राप्त होता रहता है; पर वे उनमें आसक्त नहीं होते। मनमें उनके प्रति आकर्षण या विकारको स्थान नहीं देते।

गीतामें स्थितप्रज्ञका एक लक्षण 'विगतस्पृहः' बतलाया गया है एवं श्रीमद् राजचन्द्रने 'उदयाधीन' या 'यथा-उदय'—बर्तनेपर जोर दिया है।

अभी कुछ वर्षों पहले ऐसे ही एक जैन योगिराजसे हमारी भेंट हुई थी। जब उनसे पूछा गया कि 'आपका आगेका प्रोग्राम क्या है, कहाँ जाना है या क्या करना है?' तो उत्तर मिला कि 'भविष्यके विचारोंको छोड़ दिया है, जैसा जब होनेवाला है, प्रेरणा होगी, हो जायगा; उसके लिये विचार, इच्छा अथवा चिन्ता—कुछ भी नहीं है। खानेको गये तो हमें किधर जाना है—कुछ पता नहीं; जिधर पैर ले जायँगे, चले जायँगे। अर्थात् सब बातें उदयाधीन छोड़कर इच्छा और आधाररहित जीवन बितानेकी साधना चल रही है।'

आत्माकी उन्नति चाहनेवालोंको इच्छाओंको कम करते हुए और अशुभ इच्छाओंको छोड़कर इच्छारहित बननेका प्रयत्न करना आवश्यक है। जो कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त हो, उसमें हर्ष और शोकरहित अर्थात् सम रहते हुए निःस्पृह बने, तभी शान्ति और सुख प्राप्त होगा।

निःस्पृह व्यक्ति ही बेपरवाह एवं निश्चिन्त बन सकता है। कहा भी गया है—'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।' भौतिकवादी इच्छाओंको बढ़ाते रहते हैं, आध्यात्मिक व्यक्ति उन्हें घटाते रहते हैं। भौतिकवादी भोगमें सुख मानते हैं, आध्यात्मिक व्यक्ति त्यागमें ही आनन्दानुभव करते हैं। भारत आज भौतिक चकाचौंधमें अपनी प्राचीन परम्परा एवं संस्कृतिको भूलता एवं छोड़ता जा रहा है, यही चिन्ताका विषय है।

सत्य तथा सरलता

(लेखक—श्रीनिरंजनदासजी धीर)

सृष्टिकर्ता परमेश्वरको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी कहा जाता है। महात्मा गांधी भी ईश्वरका सत्यके रूपमें ही अन्वेषण करते थे। हमारे शास्त्रोंमें धर्मके 'तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः' अर्थात् धर्मरूपी वृषभके तप, शौच (पवित्रता), दया तथा सत्य—ये चार पाद कहे गये हैं। अब केवल धर्म सत्यपर ही निर्भर है और कलिकालकी कृपासे पुष्ट हुआ असत्य इसको भी नष्ट करता चला जा रहा है।

मानवमात्रको सभी धर्मोंके नेताओंने सत्य बोलनेकी परमावश्यकताको आग्रहपूर्वक समझाया है; क्योंकि इसके पालन किये बिना आध्यात्मिक उन्नति हो ही नहीं सकती। इसलिये हमारे पूर्वजोंका सदासे यही आदेश रहा है—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'

(मनु० ४। १३८)

'सदा सत्य बोलो और मीठा बोलो, किंतु जो दूसरेको बुरा लगे, ऐसा सत्य न बोलो।' ऐसी दशामें मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

सत्य तथा सरलताका केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं, किंतु ये एक ही तत्त्वके दो प्रयोग हैं। जो व्यक्ति सत्यको अपनायेगा, उसको अपने आचार तथा व्यवहारमें सरलताकी शरण लेनी ही पड़ेगी।

संसारके कर्मक्षेत्रमें सरलताके प्रयोगसे मानवको कितना लाभ होता है, यह निम्नलिखित उदाहरणोंसे स्पष्ट होगा।

१—श्रीमनोहरलालजीका स्थानान्तरण अमृतसर हो गया। घर-गृहस्थीका सारा सामान बाँधकर रात्रिको ही एक कमरेमें रख दिया गया; क्योंकि ट्रक (ठेला) वालोंको प्रातः पाँच बजे सामान ले जानेका समय दिया गया था। नियत समयपर ट्रक लेकर जब वे आये और सामानके बंडल गिने तो एक कम था। पहले तो इस अन्वेषणमें कि कौन-सा बंडल नहीं है, श्रीमनोहरलाल और उनकी धर्मपत्नीको आधा घंटा लगा। यह एक छोटा बक्स था, जिसमें शीशेके गिलास थे; फिर सारी कोठीमें ढूँढ़नेमें समय लगा। जब मनोहरलालने एक गिलासका टुकड़ा बँगलेकी पिछवाड़ेकी दीवारके समीप देखा और उन्होंने उचककर दीवारके पीछे

देखा तो टूटे गिलासोंका बक्स दृष्टिगोचर हुआ। उन्होंने अपने बीसवर्षीय पुत्र मोहनसे पूछा तो वह मान गया कि बक्स सीढ़ियोंसे उतरते समय उसके हाथसे गिर गया था और चूर-चूर हो गया, इसलिये उसने पिछवाड़े फेंक दिया और बताया नहीं; जिसका फल यह हुआ कि दो ट्रकवालों और माता-पिता तथा नौकर—पाँच व्यक्तियोंका एक घंटेका समय निरर्थक गया और इतने समयमें ठेला पचीस मील निकल जाता। वह अपनी भूलपर सुबक-सुबककर रोने और पश्चात्ताप करने लगा। उसने कहा कि 'अब मुझे अनुभव हो गया कि यदि सत्य बोलनेसे दुःख होगा, इस भयसे सत्य न बोला जाय तो सत्य-के छिपानेसे कहीं अधिक दुःख होता है।'

२—पुस्तकोंकी अलमारीका एक किवाड़ टूट गया था। चूहोंसे पुस्तकोंकी रक्षाके लिये मूलचंदने अपने आदमीसे अपने परिचित बढ़ईकी दूकानपर सँदेसा भेजा कि वह अलमारी ठीक कर जाय। उसने अगले दिन आनेका वचन दिया, किंतु आया नहीं। दूसरी बार आदमी गया तो कहा, 'साँझ-को आऊँगा', फिर भी नहीं आया। इसी भाँति एक सप्ताह निकल गया। जब मेरे मित्रने उससे पूछा तो उसने उत्तर दिया कि 'सच बात तो यह है कि दूकानके काममें व्यस्त रहनेसे उसे समय नहीं मिलता। बाबूजी अपने घरके निकट रहनेवाले कल्लूसे काम करा लें।' ऐसा ही किया गया और अलमारी एक घंटेमें ठीक हो गयी। अब विचार कीजिये यदि मूलचंद कह देता कि उसे इस कामके लिये समय नहीं मिलेगा तो मेरे आदमीके बार-बार उसके पास जाने तथा मेरे प्रतीक्षा करनेमें अमूल्य समय नष्ट नहीं होता। वास्तवमें सीधे प्रश्नका सीधा उत्तर होना चाहिये।

३—कुंदनलालकी आयु जब पाँच वर्षकी थी तो उसके हाथपर एक भीषण व्रण हो गया, जिसकी पीड़ा तथा व्यथा-से बालक रोता रहता और सो नहीं सकता था। साधारण उपचारोंसे शीघ्र लाभ न देखकर उसके माता-पिताने उसके व्रणको अस्पतालमें ले जाकर चिरवा देनेका निश्चय किया। किंतु बालकको चीर-फाड़से बहुत भय लगता था और रक्तको देखने मात्रसे वह भयभीत होकर काँपने लगता था। इसलिये बालक अस्पतालके नामसे चीखने-चिल्लाने लगता था।

बालकको फुसलानेके लिये उसके पिताने उसको दृढ़ विश्वास दिलाया कि उसको अस्पतालमें न तो कोई व्यथा होगी और न रक्त ही निकलेगा। व्रणपर ऐसी ओषधि लगा दी जायगी जिससे उसकी व्यथा शान्त हो जायगी।

किंतु अस्पतालमें जाकर कुंदनके व्रणको चिरा दिया गया। उससे उसको तीव्र व्यथा भी हुई तथा पीब और रक्त भी निकला। बालक अपनी सुध-बुध खो बैठा। घर आनेपर जब उसकी दशा सामान्य हुई, तब उसके हृदयको धक्का लगा कि उसके पिताने उसे धोखा दिया है। उसका अपने पितामें विश्वास सदाके लिये जाता रहा। यह घटना उसको वृद्ध हो जानेपर भी नहीं भूलती।

माता-पिताको बच्चेके लाभके लिये भी उससे विश्वासघात नहीं करना चाहिये।

४—कृष्णलाल हरियाना प्रान्तके करनाल जिलेका निवासी था। उसने मेरठ विश्वविद्यालयसे एम्० ए० पास किया था। उत्तरप्रदेश सरकारकी आज्ञाके अनुसार केवल उत्तरप्रदेशनिवासियोंको ही राजकीय उच्चपदोंपर नियुक्त किया जा सकता था। कृष्णलालने अपना निवासस्थान मेरठ लिखवा दिया और उसको हरदोईमें एक उच्चपद प्राप्त हो गया। कृष्णलालका मन सदा ही भयभीत रहता था कि कहीं यह पता न लग जाय कि वह उत्तरप्रदेशका निवासी नहीं है; क्योंकि फिर तो यही नहीं कि उसकी नौकरी छूट जाय, किंतु उसपर धोखा देनेका आरोप भी लग सकता था। दो वर्ष पीछे कोई सम्बन्धी उसके पास आया, जिससे एक व्यक्तिको यह ज्ञात हो गया कि यह करनाल-निवासी है। उसने उसका असत्य प्रकट कर देनेकी धमकी देकर कई सौ रुपये ऐंठ लिये। फिर भी कृष्णलाल सदा भयभीत ही रहता। उसका जीवन दुःखमय हो गया। जब उत्तर-प्रदेश सरकारको हाईकोर्टके निर्णयस्वरूप अपना पहला आदेश रद्द करना पड़ा, तब उसने सुखकी साँस ली।

५—श्रीबृजलाल ओखला औद्योगिक क्षेत्रमें एक कार्यालयमें काम करता था और समीपकी श्रीकालकाजीकी नवीन बस्तीमें किरायेके मकानमें रहता था। एक दिन उसकी ससुरालकी ओरका एक सम्बन्धी उसे चाँदनी चौकमें मिल गया। सम्बन्धके नाते उसने बृजलालको अपने स्थान राजौरी गार्डनमें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। उस दिन मङ्गलवार था, उसने रविवारको आनेको कहा। बृजलाल सम्बन्धके कारण कुछ कह न सका।

जब घरपर आकर अपनी धर्मपत्नीको उनके रविवारके निमन्त्रणकी बात कही, तब वह बोली—'हमारे घरसे राजौरी गार्डन बीस-पचीस मील दूर है, चार स्थानोंपर बसें बदली जायँगी, जिनकी घंटों इस ग्रीष्मकी घाममें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। आने-जानेमें इतना अधिक कष्ट होगा कि यह निमन्त्रण बहुत महँगा पड़ेगा। इसलिये एक पोस्टकार्डद्वारा निमन्त्रणको अस्वीकार कर दो।' फल यह हुआ कि लंबा पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। इनके सम्बन्धी सप्ताहके आरम्भमें रविवारका निमन्त्रण देते और ये उसको कोई बात बनाकर टाल देते। अन्तमें तंग आकर इनको लिखना पड़ा कि अधिक दूरी तथा बसोंकी असुविधासे इनके लिये निमन्त्रणका स्वीकार करना बड़ा कष्टदायक होगा। यदि ये पहले ही सरलतासे ये बातें उनसे कह देते तो न यह लम्बा पत्र-व्यवहार चलता और न उनका मनमुटाव ही होता।

आध्यात्मिक भावनाको छोड़कर भी केवल व्यावहारिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो सत्य तथा सरलताके व्यवहारसे उसके अपने मनको जितनी सुख-शान्ति मिलती है, वह एक अमूल्य वस्तु है और हर दृष्टिकोणसे झूठके खुल जानेकी चिन्ता तथा भयसे घिरे हुए जीवनकी अपेक्षा उत्तम तथा वाञ्छनीय है। सत्य तथा सरलताके अनुयायीको सभी आदर देते हैं और वह सभीका विश्वासपात्र बन जाता है।

प्रायश्चित्त

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

आजसे साठ वर्ष पहले, भारतवर्षमें दस-पाँच मोटरें शायद कलकत्ता-बम्बईमें आयी होंगी। राजस्थानमें तो बहुत बादमें राजे-महाराजे या किसी बड़े सेठके यहाँ एकाध गाड़ी आयी। उन दिनों वहाँके रईस अच्छी नस्लके घोड़े, ऊँट या रथोंके लिये बैलोंकी जोड़ी रखते थे। किसी-किसीके यहाँ हाथी भी रहते। पर्व-त्योहारोंपर घोड़ों या ऊँटोंके दौड़की प्रतियोगिता हुआ करती।

मैंने अपने बचपनमें, गणगौरके मेलेमें ऊँटोंकी दौड़ देखी है। महीनों पहलेसे इसके लिये जोरदार तैयारियाँ शुरू हो जातीं। उन्हें घी, गुड़, मेथी आदि पौष्टिक खूराक दी जाती। उनके लिये झालरदार रंग-बिरंगे झूल बनवाये जाते। प्रतियोगिताओंमें उन्हें सजाकर बड़ी शान-से लाया जाता। दूर-दूरके गाँव और कस्बोंके लोग देखने इकट्ठे होते। जिनके ऊँट या घोड़े अच्छे और तेज निकलते, उनकी चर्चा लोगोंमें होती। यहाँतक कि उन ऊँटों या घोड़ोंको देखनेके लिये गाँवसे गुजरते समय लोग आ जाया करते थे।

इसी प्रकारका एक तगड़ा और तेज चालका ऊँट रामगढ़के सेठ श्रीवृद्धिचन्दजीके पास था। उसके बारेमें शोहरत थी कि हनूमान्‌जीकी उसपर विशेष कृपा है। इसलिये वह हवासे बातें करता हुआ दौड़ता है। उस अञ्चलके प्रसिद्ध धाड़ैत (डाकू) बदनसिंहकी आँखें उसपर लगी हुई थीं। वह मौका नहीं लग पा रहा था; क्योंकि सेठजीके साथ हमेशा दो-चार अङ्गरक्षक यात्रापर रहा करते, इसलिये उसे सामने आनेकी हिम्मत न होती थी।

पर ऊँटको वह किसी-न-किसी तरह लेना चाहता था। उसने अपने भेदिये आस-पास लगा दिये। उन्होंने एक दिन खबर दी कि अगले दिन शामको सेठजी पासके गाँवके समधियानेमें जायँगे। उनके साथ रहनेवाले अङ्गरक्षकोंके परिवारमें शादी है, इसलिये वे अकेले ही रहेंगे।

जाड़ेका मौसम था, शामका झुटपुटा। दोनों ओर बालूके टीलोंके बीच-बीचमें झाड़ियाँ। अपने चीलिये (चीलकी तरह उड़नेवाला) ऊँटपर जैसे ही सेठजी गाँवसे कुछ दूर चले होंगे कि उन्हें एक बीमार वृद्ध सर्दीसे ठिठुरता हुआ सूनी सड़कके किनारे दिखायी पड़ा। उन्होंने ऊँटको रोक लिया और राहगीरको जिज्ञासाभरी दृष्टिसे देखा। वह बूढ़ा हाथ जोड़कर कहने लगा—'अगले गाँव जा रहा था, रास्तेमें बुखार चढ़ आया। बड़ी कृपा हो, यदि आप वहाँतक पहुँचा दें।'

उन दिनों चोर-डाकुओंका डर रहता था। लोग अनजाने आदमीके कहनेपर सूने रास्ते या जंगलमें रुकते नहीं थे। मगर सेठजीके बारेमें प्रसिद्ध था कि याचकको

उन्होंने कभी निराश नहीं किया। ऊँटको उन्होंने बैठाया और बूढ़ेको अपने पीछे चढ़ा लिया।

कुछ दूर जानेपर सेठजीको पीछेसे एक जोरका झटका लगा और वे दौड़ते हुए ऊँटपरसे नीचे गिर पड़े। संयोगसे वहाँ बालू थी, इसलिये उन्हें विशेष चोट नहीं आयी। ऊँट बहुत समझदार और स्वामिभक्त था। मालिकके गिरते ही रुक गया। बहुत मारने-पीटने और नकेल झकझोरनेपर भी आगे बढ़ा नहीं, अड़ा ही रहा। सेठजीने देखा, ऊँटपर बैठे वृद्धका तार-तरीका और शक्ल अब बदल गयी है। ऊँटके अड़नेपर वह चिढ़ा और परेशान भी हो उठा था। हाथमें कटार लेकर उसने सेठजीको धमकाकर चीलियेको हाँकने (चलने) के लिये कहा।

सेठजीने उससे कहा कि 'भाई! तुम्हें भगवान् एकलिङ्गजीकी सौगन्ध है, किसीसे न कहना कि यह ऊँट तुमने इस ढंगसे लिया है। बस, इतना कहना कि मैंने स्वेच्छासे तुम्हें दे दिया। यदि असली बातका पता चलेगा तो लोग राह चलते जरूरत-मंद और अपंगोंका विश्वास करनेसे डरेंगे।' यह कहते हुए उन्होंने अपनी कमरसे सौ रुपये निकाले और उसे देते हुए कहने लगे—'इस ऊँटको मैंने अपने बच्चेकी तरह पाला है। इसके दाने-चारेमें कमी न आने पाये। प्यारसे पाला है, प्यार इसे देते रहना। भगवान् तुम्हारा भला करें।'

थोड़ी देरतक तो बदनसिंह भौंचक्का-सा सेठजीकी ओर देखता रहा। परंतु सेठजीने जब ऊँटको जानेका इशारा किया तो वह उसपर बैठकर अपने डेरेपर चला गया।

बदनसिंहने अपने जीवनमें बहुतोंको लूटा और कितनोंकी जान ली, परंतु इस घटनाके बादसे उसके मनमें एक बेचैनी-सी रहने लगी। रातमें उसे बुरे सपने आते और वह चौंककर उठ बैठता। दो-तीन दिन बाद वह सेठजीके गाँवमें गया। उसने सुना कि सेठजीके पैरकी हड्डी टूट गयी है और उसकी चिकित्सा चल रही है। उसे यह भी पता चला कि सेठजीने न तो पुलिसमें इसकी सूचना दी और न अपने आदमियोंतकसे इसकी चर्चा की। गाँव लौटकर वह बहुत अनमना रहने लगा। एक दिन अपने साथियोंको इकट्ठाकर उसने अपना निर्णय सुनाया कि 'मैंने यह खोटा धन्धा छोड़नेका निर्णय कर लिया है और अब आत्मसमर्पण करने जा रहा हूँ।' साथियोंको मालूम था कि दृढ़निश्चयके सामने सरदारको समझाना-बुझाना व्यर्थ है।

एक दिन अँधेरी रातमें वह चीलिये ऊँटपर बैठकर सेठजीके घर गया। सामने पड़ते ही उसकी हिचकियाँ बँध गयीं। रुँधे गलेसे सेठजीके पैरोंपर गिरकर उसने कहा—'मुझसे बड़ा भारी अन्याय हो गया, जो आप-जैसे देवता-पुरुषके साथ मैंने धोखा किया। सचमुच, जैसा आपके बारेमें मैंने सुना था, उससे कहीं ऊँचा आपको पाया।'

सेठजीने उसका कंधा पकड़ते हुए उठाना चाहा; किंतु वह कहने लगा—'मेरी करबद्ध प्रार्थना है, आप मुझे अपनी सेवामें ले लीजिये। मुझे अपने लिये केवल दो रोटी चाहिये। सारी उम्र मैंने बहुत तरहके पाप किये। अब आखिरी उम्रमें आप-जैसे महात्माके चरणोंमें रहकर प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।'

इसके बादसे डाकू बदनसिंह 'भगत बदना' हो गया। रामगढ़के अञ्चलमें आज भी उसका यह दोहा प्रसिद्ध है।

सुख लूटै दुख ही मिलै तृष्णा बढ़ती जाय।
प्रभु सुमरन बदना चल्यो, असली सुख मिल जाय॥

एकमात्र तुम्हीं

नहीं मान धन-कीर्ति-भोगकी, नहीं मोक्षकी किंचित चाह।
नहीं अयश-अपमान-दुःखकी, तनिक नरककी भी परवाह॥
सदा-सर्वदा एकमात्र तुम करो हृदयमें ही अधिवास।
रहो दीखते बाहर भी सर्वत्र सदा करते मृदु हास॥
पाते रहें चित्त-दृग दोनों एक तुम्हारा ही संस्पर्श।
इह-परकी फिर लाभ-हानिसे कभी न होगा हर्ष-अमर्ष॥
आयें-जायँ यथेच्छ कहीं भी कुछ भी कभी मुक्ति या बन्ध।
एक तुम्हारे सिवा न मेरा रहा कहीं भी कुछ सम्बन्ध॥

—भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

श्रीकनकधारास्तोत्र*

(अनुवादक—श्रीमाधवशरण श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्०बी०)

जो ठेली रहती है आश्रय हरिके श्रीअङ्गोंपर पुलकित ,
जैसे भ्रमरी तमाल तरुपर मुकुलित सुमनावलिसे भूषित ।
सारे ऐश्वर्योंका निवास जिसमें, अपाङ्ग-लीला सुखदा,
मङ्गलरूपा श्रीदेवीकी हो सदा मुझे माङ्गल्यप्रदा ॥ १ ॥
जो बारंबार मुरारीके मुखमण्डलपर मोहित होकर ,
जाती है प्रेमप्रचालित हो, फिर लौट लजाकर आती पर ।
चितवन-माला मधुकरी सदृश मँडराती हुई महोत्पलपर ,
वह सिंधु-सम्भवा देवीकी दे मुझपर श्रीकी वर्षा कर ॥ २ ॥
जो देवराजकी पदवीका वैभव प्रदान करनेमें क्षम ,
है सुरारातिको भी मिलता जिसके द्वारा आनन्द परम ।
क्षणमात्र पड़े मुझपर भी वह अधखुले लोचनोंकी चितवन ,
कमलादेवीकी, नीलकमल-उदरोपम जो सौन्दर्य-सदन ॥ ३ ॥
आमीलित, ललित, निमेषरहित, झषकेतनका शासन जिनपर,
लोचनवाले आनन्द-कंद मधुजितको निज समीप पाकर ।
प्रमुदित आकेकर ताराओं-पलकोंवाले अम्बुज-अम्बक ,
पन्नगपतिशायी-दयिताके हों मेरे लिये विभूति-जनक ॥ ४ ॥
जो मधुजितके वक्षःस्थलपर, जिसपर वर कौस्तुभमणि शोभित—
विलसित होती ज्यों इन्द्रनीलमणि-विरचित हारावली ललित ।
चितवन-माला हरिके उरमें भी काम जगा देनेवाली ,
उन कमलवासिनीकी कर दे मुझको कल्याणामृतशाली ॥ ५ ॥
नीलाम्बुद-पटली-सदृश ललित जो कैटभारि-वक्षःस्थलपर ,
होतीं विस्फुरित यथा विद्युद्बाला घनमालाके भीतर ।
जो सारे लोकोंकी जननी, विग्रह महनीय मनोहारा ,
भृगुवंशनन्दिनीका उन हों, मम हेतु महामङ्गलकारी ॥ ६ ॥
पहले-पहले जिसके प्रभावसे निश्चय ही पाया आसन ,
मन्मथने उरमें सुरमन्थनकारी हरिके मङ्गल-भाजन ।
अर्द्धोन्मीलित दृगकी मुझपर वह पड़े यहाँ मन्थर चितवन ,
अलसायी उनकी मन्द-मन्द, जो प्रकटीं कम्पति-तनया बन ॥ ७ ॥
बरसा धनाम्बु-धारा दे हो अनुकूल दयानिलसे प्रेरित ,
बेचारे चातक-शिशुपर इस निष्किंचन तथा विषाद-ग्रसित ।
कर दूर सदाके लिये घोर दुष्कर्मोंका आतप खरतर ,
नारायण-दयिताका कज्जल-रञ्जित लोचनरूपी जलधर ॥ ८ ॥
वत्सलता-भाजन जन विशिष्ट-मतियुत भी जिनकी कृपा-भरी
चितवनसे पाते अनायास रहनेको देवोंकी नगरी ।

---

* आचार्य शंकरकृत इसी नामके संस्कृत स्तोत्रका अविकल पद्यानुवाद । मूल स्तोत्र गद्यानुवाद-सहित 'कल्याण' के 'संतवाणी-अङ्क' (२९वें वर्षके विशेषाङ्क) के दूसरे खण्डमें पृष्ठ ७२२—२४ पर छपा है ।

उन्मीलित उत्पल-उदराभा-मण्डित वह दृष्टि मनोवाञ्छित ,
परिपोषण दे मुझको उनकी जो पुष्कर-आसनपर संस्थित ॥ ९ ॥
जो बनतीं ब्राह्मी, बनती हैं गरुडध्वज-वनिता अभिरामा ,
जो बनतीं शाकम्भरी तथा शशिशेखरकी बनतीं वामा ।
क्रमशः सर्जनकी, पालनकी, जब चलती तथा प्रलय-लीला ,
है उन्हें नमन, जो त्रिभुवनैक-गुरु-प्रिया, नित्य यौवन-शीला ॥ १० ॥
शुभ कर्मोंका फल देतीं जो, उन श्रुतिरूपाको नमस्कार ,
रमणीय गुणोंकी अर्णव जो, उन रतिरूपाको नमस्कार ।
जो शक्तिस्वरूपा, शक्तिमयी, उन शतदलधामाको वन्दन ,
उन पुष्टिस्वरूपा, पुरुषोत्तमकी प्यारी बामाको वन्दन ॥ ११ ॥
है नमस्कार उनको, जिनका नालीक-समान सुभग आनन ,
क्षीरोदधिसे जो हुईं प्रकट, पद-पद्मोंमें उनके वन्दन ।
जो सहोदरा हैं सुधा-सुधाकर दोनोंकी, उनको प्रणमन ,
जो नारायणकी प्राणप्रिया, चरणोंमें उनके नमोनमन ॥ १२ ॥
सम्पत्तिप्रदा, इन्द्रियगणको देनेवाली आनन्द अमित ,
सरसिजनयने ! साम्राज्यदान करनेकी भी सामर्थ्य-सहित ।
वन्दना तुम्हारी, उद्यत जो रहती करनेको अघमोचन ,
माँ ! आदरणीये, बने सदा मेरे जीवनका अवलम्बन ॥ १३ ॥
जिनके करुणार्द्र-कटाक्ष-हेतु कृत सविधि अर्चना-आराधन ;
सेवकके सकल मनोरथका, उसके वैभवका संवर्द्धन ।
सम्पादित करता है, करता मैं तनसे, मनसे तथा वचन—
तीनोंसे मुरहर-हृदय-सद्म-स्वामिनी आपका सतत भजन ॥ १४ ॥
हे सरसिज-सदने देवि ! लिये जो करमें लीला-कमल ललित ,
जो परम धवल परिधान तथा चन्दन-मालादिकसे शोभित ।
हे भगवति ! हे हरि-प्राणप्रिये ! हे मनोरमे ! सौन्दर्य-निकर ,
हे त्रिभुवन-भूति-विधायिनि !! तव बरसे प्रसाद मेरे ऊपर ॥ १५ ॥
दिक्करिगण निजकर-धृत कञ्चनके कलशोंके मुखसे झरते ,
स्वर्धुनी पुनीत-रुचिर जलसे देहाभिषेक जिनका करते ।
मैं करता प्रातःकाल नमन उनको, हैं जो जगकी माता ,
सारे लोकोंके अधिपतिकी गृहिणी, जो दुग्धोदधि-जाता ॥ १६ ॥
हे कमले ! कमल-नयन हरिकी वल्लभा आप, प्रियतमा आप ,
करिये अपाङ्गका निज, जिसमें लहराती हो करुणा अमाप ,
भाजन मुझको गणना जिसकी जन सकल अकिंचन बीच प्रथम,
अतएव आपकी करुणाका हूँ स्वाभाविक ही पात्र परम ॥ १७ ॥
प्रत्येक दिवस जो लोग स्तवन करते इन स्तुतियोंके द्वारा ,
त्रिभुवन-जननी श्रीलक्ष्मीका, जो त्रयीमयी, निगमाकारा ।
अगणित महान गुणगणवाले, गुरुतर अद्‌भुत सौभाग्य सदन,
बुध-जन-भावित आशयवाले जाते हैं वे पृथ्वीपर बन ॥ १८ ॥

मुझे अकिंचन जानकर—

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

मुझे अकिंचन जानकर मेरा उपहास करनेके लिये याचकका रूप धरकर तुम मेरे द्वारपर आये हो !

वाह ! क्या कहा ! आँखोंमें दिन-दहाड़े धूल झोंकना कोई तुमसे सीख ले । अपनी सर्वसम्पन्नताका पोट बाँध, कंधेपर पीछेकी ओटमें धारण किये, मेरे सामने खाली झोली पसारे खड़े हो ।

झोली भी कैसी !···—जिसके समक्ष वामन-डगका कौतुक भी डगमगाकर ढह पड़े ।

लगता है कि तुम्हें लज्जा छू नहीं गयी है; एकमात्र निर्ममता ही तुम्हारी चिर-सहचरी है । तभी तो तुम ऐसा निष्ठुर कौतुक करनेपर उतारू हुए हो ।

लेकिन स्मरण रहे—अपनी-सी सब कुछ कर गुजरनेपर भी हार ही तुम्हारे हाथ लगेगी ! मनचाही होनेसे रही । सुनिश्चित रहो, मैं उपहसित नहीं होनेका ! तुम भले ही लज्जित होकर रह जाओ ।

माना मैंने कि मैं अकिंचन हूँ । लेकिन यह नहीं देखा तुमने कि अकिंचन होते हुए भी काञ्चन-शिखरपर खड़ा हूँ—सब कुछ दे डालने···अपना सर्वस्व निछावर कर डालनेकी भव्य भावनाके काञ्चन-शिखरपर !···

जानते हो—क्या करूँगा मैं ? नहीं जानते तो लो, जान लो ।

कुछ नहीं है न मेरे पास ? न सही, कोई चिन्ताकी बात नहीं । इस न होनेसे न मुझे झेंप चढ़ी है, न मैं संकोचमें पड़ा हूँ । क्यों चढ़े ? क्यों पड़े ? कुछ न होते हुए भी मेरे ·····तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते निष्प्रभ हुए लोचनोंमें विवशताश्रु तो पूरंपूर भरे ही हैं । यह क्या कम है मेरी अकिंचनताको मेटनेके लिये··· तुम्हारा—तुम छलिया याचकका पूरा डालनेके लिये ? इन्हीं अश्रुओंको—अश्रु-मुक्ताओंको मैं तुम्हारी इस खाली झोलीमें उँडेल धरूँगा । उँडेल-उँडेलकर इसे भरे चला जाऊँगा । जैसे-जैसे अश्रु उँडलेंगे, वैसे-वैसे ही और भरेंगे । असलियतके अटूट स्रोतसे सम्बन्ध जो ठहरा उनका । इस तरह यह उँडेलना चलता ही रहेगा, जबतक कि तुम्हारी झोली अटाटूट न भर जाय, उसके मायिक लघुताविस्तारकी कलई खुलकर न रह जाय ।

तब, बोलो तुम्हीं, क्या होगा ? आयेगी न लाज तुम्हारी निर्लज्जताको भी ? लजाकर ही रह जायगी न वह सदाकी निर्लज्ज-सी ? मुझे उपहसित करनेके स्वप्न देखते-देखते तुम स्वयं उपहसित होकर रह जाओगे कि नहीं ? मेरी खिल्ली उड़ाने चलकर स्वयं अपनी ही खिल्ली उड़वा लोगे कि नहीं ।

इतना तो होगा ही ! और भी कुछ होगा और वह बड़ा विलक्षण होगा । विवशताश्रु अपना काम करेंगे—बड़ी सफाईके साथ और तुम्हारी निर्ममतासेंसे, कहना चाहिये, पाषाणकी छाती चीर, करुणा-स्रोत फूट पड़ेगा —अजस्र-अनन्त करुणा-स्रोत । यह करुणा-स्रोत मेरे विवशता-स्रोतसे मिलकर तब वही करेगा, जो सदासे वह करता आया है । चिरवाञ्छित—नित्याभीष्ट एकत्वकी पुनीत मन्दाकिनी तब सहज प्रवाहित हो उठेगी और उसके अलौकिक प्रवाहमें मैं-तुम 'मैं-तुम' न रहकर अवगाहन कर रहे होंगे । और इस तरह तुम देख ही रहे हो कि तब तुम्हारा मनचाहा न होकर मेरे मनचीते हो गये होंगे । किसीकी आँखोंमें धूल झोंकने चलकर तुम्हारी ही आँखोंमें धूल पड़कर रह गयी होगी ।

तो तुम मुझे अकिंचन जानकर—तुमपर बलिहारी जाऊँ, तनिक दर्पणमें स्वछवि तो निहार लो, मेरा उपहास करनेके लिये, याचकका रूप धारणकर मेरे द्वारपर आये हो । भले आये । स्वागत !·····बार-बार स्वागत !!···सौ-सौ बार स्वागत !!!···

परिवार-नियोजन

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

वैज्ञानिक आजके समाजका आराध्य हो गया है। वह जो कुछ भी खोजता है, उसे समाजके अर्पित कर देता है और समाज उसे सिर-माथे लगा लेता है। दोनोंमें कितना मधुर सम्बन्ध है? दोनोंमें कितनी सहमति है। वैज्ञानिक समाजके कष्टोंको नहीं देख पाता, इसलिये सुविधाएँ जुटाता है और समाज केवल बटन दबाकर सब कुछ प्राप्त कर लेता है। वैज्ञानिकद्वारा प्रमाणित सत्यको प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं होती। इस श्रद्धा-सहयोगका आभ्यन्तर पहलू क्या है? विज्ञानद्वारा दी गयी सुविधाओंका मूल्याङ्कन क्या है? इस प्रश्नपर विचार करनेका अवकाश किसीको नहीं है; परिणाम हमारे सामने है, किंतु उन परिणामोंकी विवेचन-मीमांसा करनेकी हमें सूझ नहीं है। यह अन्धविश्वास पीढ़ीके विवेकको निगलता जा रहा है, हमारी अन्तर्दृष्टि संकुचित होती जा रही है। समाजमें व्याप्त दुःख-द्वन्द्वको, व्यक्तिके भीतर हो रहे क्लेशको हम अनुभव करते हैं; किंतु वह क्यों है, इसका निदान नहीं खोजते। हमारी दृष्टि केवल बाह्यको देखकर संतुष्ट हो लेती है, हमारा विश्वास एक सीमामें बँध गया है।

आजके आदमीको कोई इन यन्त्रोंके जंजालसे घृणा करनेको कहे तो उसे बहुत बुरा लगेगा। यथार्थमें वह यन्त्रोंका विस्तार और बहिरङ्ग विश्वास आज ऐसे बिन्दुपर आ गया है, जिसपरसे लौटा नहीं जा सकता; जिन सुविधाओंको जुटाया गया है, उनसे विमुख होनेकी कल्पनामात्रसे दुःख होता है। कोई भी यह नहीं चाहेगा कि इन सुविधाओंसे वञ्चित रहनेका परामर्श दिया जाय; पर विवेकका यह आग्रह है कि आजकी सामाजिक विषमता और व्यक्तिगत जटिलताका कारण ढूँढ़ा जाय। सुख और दुःख, हर्ष और विषाद इस संसारके लक्षण हैं; किसी भी युगमें इनका द्वित्व समाप्त नहीं हुआ। इनका अनुपात बदलता रहा है और उसी अनुपातको विज्ञ पुरुषोंने युगोंके नामसे जाना-समझा है। विज्ञानके उपकरण हमारे सुखके आधार हैं; पर वह सुख कितना महँगा है, इसपर विचार करनेका साहस हममें नहीं है। गर्मीसे बचनेके लिये पंखा अथवा कूलर हमारे सुखका आधार है; पर उस आधारने हमें कितना विवश कर दिया है, यह विचारनेका अवकाश हमें नहीं है। पंखा न हो तो नींद न आये; खराब हो जाय तो चैन नहीं पड़े। बिजली बंद हो जाय तो झुँझलाहट बढ़ जाय। ये सारी स्थितियाँ हमारे सुखकी स्वरूप हैं। सामान्यरूपसे हम ऐसी मनःस्थितियोंके अभ्यस्त हो गये हैं और इस सुविधाके आगे उस अशान्तिको नगण्य मानते हैं; पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ता है। होता यह है कि इन भौतिक साधनोंसे सुख-प्राप्तिकी लालसाके कारण हमारा मन इतने तनावोंको भोगता है कि वे तनाव हमारे लिये आवश्यक हो गये हैं। स्थिति यहींतक रहती तो भी कोई बात नहीं थी। वास्तवमें इन तनावोंका दूरगामी प्रभाव पड़ता है; व्यक्ति मनसा अस्वस्थ हो जाता है; मानसिकरूपसे व्यक्ति पीडित और कुण्ठित होता है, उत्तेजित होता है और यह उसका स्वभाव बन जाता है। मन स्वाभाविक निर्मलताको भूलकर विकारोंके कल्मषको प्रकृति मान लेता है। जिन बातोंको परिहासमें उड़ा देना चाहिये, उनको मननका विषय बना लेता है और व्यर्थकी उत्तेजना भोगनेका आदी हो जाता है। इस प्रकारके प्रकृति-विकार अथवा मानसिक अस्वस्थताके पीछे भौतिक सुविधाओं और विज्ञानके जटिल उपकरणोंकी उपस्थिति एक सुनिश्चित कारण है।

मनका विचित्र स्वभाव है और क्रिया-प्रतिक्रियाका पुञ्ज है। कुण्ठा होती एक कारणसे है और फूटती अनेक मार्गोंसे है। व्यक्ति असंतुष्ट एक स्तरपर होता है और उसकी प्रतिक्रिया विभिन्न स्तरोंपर होती है। कुण्ठित होना या असंतोष एक क्रिया है; उसकी प्रतिक्रिया जब प्रकट होती है, तब उससे पहले मनको विषाक्त कर देती है और विष-प्रभावित मन किसी भी स्थितिको उसके वास्तविक रूपमें नहीं देखता। फल यह होता है कि वह तनाव और स्नायुगत उत्तेजनाको जन्म देने लगता है; यहींसे मानसिक अस्वस्थताका प्रारम्भ होता है। यह अस्वस्थता व्यक्तितक सीमित नहीं रहती और इसका संक्रमण होने लगता है। आजके व्यक्तिकी व्यस्तता भी उसके विश्रामको संतोषसे नहीं भर पाती इसका मुख्य कारण यान्त्रिक जटिलता भी है। जब एक सामान्य-सा उपकरण व्यक्तिको इतना प्रभावित करता है, तब विशाल कारखाने, मशीनोंकी अकल्पितवृद्धि

समुदायको बाहरसे सुखी और अन्तरसे विषण्ण, दिखनेमें सम्पन्न और यथार्थमें विपन्न कर रही है।

आज मशीनोंने व्यक्तिको पराजित कर दिया है। व्यक्ति स्वयंको बंदी बनानेके लिये अहर्निश तपस्या कर रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब मनुष्योंसे अधिक मशीनें हो जायँगी। जिस जंजालके कारण व्यक्ति अपने अस्तित्वको भूलता जा रहा है, जिस विकासने उसके सुख-स्नेह और मानवीयताको लुप्त करना शुरू कर दिया है, उसीको प्रगतिके प्रतीकके रूपमें पूजा जा रहा है—कितनी बड़ी विडम्बना है, कैसा बचपन है! उन्नतिके प्रतीक जिन कल-कारखानोंको सजाया जाता है, वे व्यक्तिको भीतरसे तोड़ रहे हैं, उनका धूआँ वायु-मण्डलकी संशोधन-क्षमताको क्षीण करके असंतुलन उत्पन्न कर रहा है। आजके शहर स्वच्छ वायुके लिये तरस रहे हैं और जनता शहरोंके आकर्षणमें बँधकर शहरोंकी तरफ दौड़ रही है। कारखानोंका कूड़ा-कर्कट, गंदा तेल और विषपूर्ण जल प्रकृतिके निर्मल जल-स्रोतोंको दूषित कर रहा है। पीनेके पानीकी कमी होती जा रही है। पानीको स्वच्छ करनेके लिये कीटाणुनाशक औषध काममें ली जाती हैं। स्पष्ट है, पानीकी स्वच्छताका अर्थ कीटाणु-रहित स्थिति है। जो दवा कीटाणुओंका नाश करती है, उसके लिये आवश्यक और अनावश्यक कीटाणुओंका भेद नहीं होता; इसलिये वह पीनेवालेके लिये कुस्वादु तो होती ही है, हानिकर भी। पर उस हानिके लिये विचार नहीं किया जाता; क्योंकि वैज्ञानिकोंने हमें आश्वस्त कर दिया है कि इस दवाकी इतनी मात्रा कोई क्षति नहीं करती। माना, एक बारमें अमुक मात्रा क्षति नहीं करती; किंतु क्या उसका निरन्तर प्रयोग भी हानि नहीं पहुँचाता—इसके उत्तरमें वैज्ञानिक मौन हैं। हमें कड़ा-कसैला पानी पीनेकी आदत हो गयी है। पेड़-पौधों और फसलोंपर कीटनाशकका छिड़काव होता है, वह कहाँ जाता है? पेड़-पौधे उसे सोख लेते हैं या वह पानीमें मिलकर बिखर जाता है? वाह रे विज्ञान! तूने सारे संसारको विषपायी शंकर बनानेका उपक्रम रच दिया है; किंतु यह नहीं सोचा कि वह मानव आखिरकार मानव है। इसकी शक्तिकी भी सीमा है। एक स्थिति वह भी आकर रहेगी, जब इसकी शक्ति चुक जायगी। आहारमें, श्वासमें और पानीमें निरन्तर प्रयोग किया जानेवाला यह विष व्यक्तिकी सामर्थ्यको क्षीण कर रहा है, मनको अस्वस्थ कर रहा है और आज व्यक्ति अपने जीवनको ही एक भार समझ बैठा है।

जीवन, मानव-योनि सारे विश्वमें आदरकी वस्तु है, इस मानवतनसे व्यक्ति उच्च-से-उच्च और अलभ्यको भी प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इसमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है। फिर भी वही सबसे अधिक कष्ट-पूरित क्यों है? क्या मशीनोंके विकासके कारण? नहीं मशीनें निर्दोष हैं। इनकी रचना सदोष है; पर इस सदोष रचनाके लिये जो मनोवृत्ति है, वही दूषित है। मशीन स्थूलसे स्थूलतककी यात्रा है, जडत्वका विस्तार है, जो चेतनको निगलता जा रहा है। मशीनोंका अम्बार और सुविधाओंकी विपुलता सुखका आधार और परिभाषा नहीं हो सकते। सुख जिस दृष्टिसे मिल सकता है, उस दृष्टिको प्राप्त किये बिना उसके साधनोंका विस्तार व्यर्थ ही नहीं, भार भी है।

जीवनके लिये निश्चय और भ्रम, दोनों आवश्यक हैं; क्योंकि भ्रान्ति जीवनके इतस्ततः बिखरी पड़ी है। भ्रान्तिके कारण संसारका अस्तित्व है, संसारका सम्मोहन है। मानव भ्रान्तिको विश्वासका आवरण पहनाकर संतुष्ट हो लेता है। भारतमें जिस प्रकारका प्रजातन्त्र है, वह प्रजातन्त्रकी भ्रान्ति ही तो है। मात्र गणितके चमत्कारपर इस प्रजातन्त्रका प्रासाद बना है और टिक रहा है। मेरा विषय प्रजातन्त्र अथवा उसके रूप-स्वरूपका विश्लेषण नहीं है। मेरा वाच्य था भ्रान्ति—वैज्ञानिक भ्रान्ति। विज्ञान गणितके सहारे चलता है और गणित अङ्क-ब्रह्मकी मूर्ति है। कल्पनाशील वैज्ञानिक बाल-स्वभाववश अथवा अपने अहंकारके कारण अपनी सफलताओंको प्रकृतिपर नियन्त्रणकी संज्ञा दे देता है और अङ्कोंके सहारे सुखद स्वप्न लेता रहता है। वह अपनी कल्पनापर अपना अधिकार मान लेता है, उसके संसारका वह स्वयं ही प्रभु बन जाता है और उसके वे सुख-स्वप्न कभी-कभी भयावह हो उठते हैं। जन-संख्याकी वृद्धिको लेकर जो कल्पना की जा रही है, उससे कई अर्थ निकलते हैं— १. मनुष्यने अपने गणितको पूरी तरह परख लिया है। २. मनुष्यसे आगे कोई नियामक है ही नहीं। ३. जनसंख्यापर नियन्त्रण करना उसके हाथकी बात है और उसके सिद्धान्त चेतन-जगत्पर भी शुद्ध रूपमें लागू होंगे। जहाँतक व्यक्तिके प्रयत्नोंका, सम्भावनाओंका और विश्वासोंका प्रश्न है, यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि उसे किसी बड़ी सत्ताके प्रति आस्था नहीं रही, वह स्वयं प्रभु होनेके मोहमें फँस गया है; अन्यथा 'जनसंख्या' और 'नियन्त्रण' ऐसे शब्द हैं, जिनको प्रथम बार प्रश्न-चिह्न लगाकर

देखा जा रहा है। इस दायित्वको ओढ़ना अहंकार है और नास्तिकवाद है। वास्तवमें यह गीतामें श्रीकृष्णके विराट्रूपको देखकर किंकर्तव्यविमूढ हो रहे अर्जुनकी-सी मोहग्रस्त स्थिति है। वैज्ञानिकने अङ्कोंके विस्तारका विराट् रूप देखा और उस रूपको जनसंख्यासे जोड़कर वह स्तब्ध रह गया। उसे यदि विश्वास होता तो वह भगवान्के रूपको नमस्कार करके उत्तरार्धको विचारने लगता; वह अपनी भ्रान्तिको ही स्थिर रखकर इस विश्वकी बढ़ती जनसंख्याके लिये आहार जुटानेके कर्मपथपर चल पड़ता।

आस्तिकके मनमें प्रश्न उठता है—'क्या इस सारी समस्यांका समाधान मानवको ही ढूँढ़ना पड़ेगा? क्या मानवीय शक्तिसे परे कोई सत्ता है ही नहीं?' इस विवशतापर आस्तिकता पछताती नहीं। वह इन जटिलताओंको अपने प्रभुके समर्पित करके निश्चिन्त हो जाती है; पर माया-मोहमें फँसा मन विश्वास नहीं कर पाता। अहंकारको दूसरेका अस्तित्व सहनीय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि वह अपने ही भ्रमोंमें बंदी बन जाता है। यह कारा आजके मानवके समक्ष है और वह उसे तोड़ नहीं पाता। उससे आहत-संत्रस्त होकर लौट आता है। परिवार-नियोजनके प्रचार और साधनों-पर जितना कुछ व्यय किया जा रहा है, उसका किंचित् अंश भी भूखे पेटके लिये खर्च किया जा रहा है क्या? क्या बढ़ रही और बढ़ चुकी आबादी अपना समाधान आप नहीं ढूँढ़ लेगी? पागल और अविश्वासीको कौन समझाये? संदेह और आशङ्काकी क्या चिकित्सा की जाय?

एक क्षणको यह मान लिया जाय कि जनसंख्यापर नियन्त्रण कर लिया जायगा; पर वह नियन्त्रण भी वृद्धिको रोक नहीं सकता। यह अवश्य है कि जिस आशङ्काको कुछ दशकोंसे सम्भावित मानते हैं, वह शतार्ध या शतीमें पूरी होगी; पर नियन्त्रणका अर्थ ह्रास नहीं है। नियन्त्रणमें वृद्धिकी स्वीकृति है, पर नियोजित ढंगसे इस नियोजनसे वह आशङ्का निर्मूल नहीं होती। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि जन-संख्याकी अधिकताके कारण सामाजिक व्यवस्थामें व्यतिक्रम उत्पन्न होता है। लङ्कामें लड़ा गया युद्ध इसी समूह और सघन आबादीके कारण दुराचारी समाजकी अनिवार्य नियति थी, द्वापरका महाभारत भी कुछ ऐसी ही अस्वाभाविक वृद्धिजनित जनसंख्याका परिणाम था। वैज्ञानिक-परीक्षणोंसे यह सिद्ध हो गया है कि जन-संकुलतामें नियम और व्यवस्था-की रक्षा नहीं हो पाती, भीड़ अराजकतावादी होती है। सघन आबादीमें मानसिक विकृतियाँ अधिक पनपती हैं और इस तरहकी आधियोंको जन्म देती हैं, जो असाध्य होती हैं। उनका विस्फोट युद्ध-जैसी अवस्थामें होता है; अन्यथा श्रीकृष्ण-सरीखे शान्तिवादीके रहते महाभारत अनिवार्य क्यों हुआ?

आजके वैज्ञानिकोंकी भगीरथ-वृत्तिको देखकर यह भी मान लिया जाय कि कालान्तरमें जनसंख्यामें ह्रास होने लगेगा; किंतु उस स्थितिमें भी क्या समाज सुखी होगा? इसका उत्तर 'हाँ' में नहीं हो सकता; क्योंकि इस समुदायने अनाचारकी जो तरंगें वातावरणमें छोड़ी हैं, उनका विनाश या रूपान्तरण किये बिना आगामी पीढ़ीके सुखी होनेकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। इस अनुभवसिद्ध तथ्यसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है कि व्यक्तिके भौतिक शरीरके भीतर मानसिक और वैद्युतिक शरीर और होता है। मन जिन अदृश्य विचार-तरंगोंको छोड़ता है, वे शेष समुदायको प्रभावित करती हैं और इस बढ़ी जनसंख्याने जितनी विपुल मात्रामें विकृत विचारोंको तरंगित कर दिया है, उनसे बचनेका क्या उपाय होगा? यदि इस सूक्ष्ममूलक समस्या-का समाधान किया जाकर जनसंख्याको अपने भाग्यपर भी छोड़ दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

सत्य यह है कि समूहकी आवश्यकताएँ अधिक होती हैं, उसे अधिक सुविधाओंकी लालसा रहती है, इसलिये वह साधन-सुविधाओंको जुटाता है। किंतु वे सुविधाएँ मानवीय और नैतिक अर्थात् धार्मिक भावनासे युक्त रहती हैं तो उनसे अशान्ति और मनोविकार नहीं बढ़ते, अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें समन्वय-संतुलन बना रहता है। जहाँ अन्तरङ्गका बाहरसे सम्पर्क टूटा, वहीं दुःख और अशान्तिका उदय हो जाता है। आजका व्यक्ति जितनी विषाक्त एवं कृत्रिम वायु निगलता है, जितना कर्ण-कटु शब्द सुनता है, जितना दूषित पानी पीता है, उतना किसी भी युगमें नहीं पीता था। इसलिये यह कलियुग है, युगोंकी परम्पराकी अन्तिम कड़ी। पूर्ववर्ती तीनों युगोंमें मानव शान्ति-स्वस्तिपाठके मन्त्रोंका, मन्दिरोंमें घण्टा, घड़ियाल और शङ्ख-नगारोंका, वीणा-मृदङ्गका कर्णप्रिय एवं मनःशुद्धिकर शब्द सुनता था, वैश्वानरको भोग लगानेमें हवन-कर्मसे उत्पन्न धूमका तथा उपवनके सुरभित कुसुमोंकी निर्व्याज गन्धका पान करता था; उससे वह तन-मनसे स्वस्थ-सबल रहता था। मनोविकार, तनाव और उत्तेजनामें नहीं

जीता था; इसलिये उसमें वीरत्व था, वह अपने पराक्रमसे लड़ता-जीतता था। आजके विज्ञानके अन्धविश्वाससे थोड़ा ऊपर उठकर यदि हम अपने अतीतकी विशुद्ध एवं वैभवशाली परम्पराका फिरसे पालन करने लग जायँ अथवा आजके उन्मादक विज्ञानको विवेककी अन्तर्दृष्टिसे जोड़ दें तो इन भ्रमों और भयोंसे मुक्ति मिल सकती है। आजके व्यस्त मानवको भगवान्के चरणोंमें समर्पित होनेकी थोड़ी भी प्रेरणा दी जा सके तो बहुत-सी आधि-व्याधियोंसे छुटकारा मिल सकता है।

उत्कर्ष, परामर्श, निष्कर्ष और समदर्श

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

उत्कर्ष मनुष्यसे कहता है—'उठ! आलस्य-प्रमाद, निद्रा-तन्द्राको छोड़। तू जो इस प्रकार आरामपरस्त होकर बैठा है, यह तेरा जीवन नहीं। तेरा जीवन तो उठने एवं जागनेमें है।

शास्त्रोंमें पुकार की गयी है—'उत्तिष्ठत! जाग्रत' 'पहले उठो, फिर जागो!' वस्तुतः देखा जाय तो पहले मनुष्य जागता है, फिर उठता है। जबतक वह जागेगा नहीं, तबतक उठेगा कैसे?

किंतु यहाँ मनुष्यके लिये संकेत है कि 'तू जहाँ भी बैठा है, उठ खड़ा हो और चल पड़ अपने लक्ष्यकी ओर; एक-न-एक दिन मंजिलपर पहुँच ही जायगा।

'अगर तू उठेगा ही नहीं, चलेगा ही नहीं तो जायगा कैसे?'

जब हम लक्ष्यकी ओर एक कदम बढ़ाते हैं, तब मंजिल भी एक कदम आगे आ जाती है। हम प्रमादसे उठें। निद्रा-तन्द्रा-आलस्यादि ही प्रमाद नहीं हैं; किंतु व्यर्थका चिन्तन, अतीतका शोकपूर्ण बोझ और भविष्यका चिन्तापूर्ण तनाव—ये भी मनुष्यको चैन लेने नहीं देते।

मनुष्य कभी सिनेमामें जाता है कभी क्लबमें, कभी पत्नी एवं कभी बच्चोंके सङ्ग विनोद करता है; कभी वह मकानकी चाहना करता है एवं कभी किसी विशेष लाभकी।

हम अतीतके लिये शोक एवं भविष्यकी कल्पना करते रहते हैं—यह भी एक प्रकारका प्रमाद ही है, जिससे जबतक हम ऊपर नहीं उठेंगे, तबतक अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर नहीं हो सकेंगे।

बहुत-से मनुष्य यह कहते सुने गये हैं कि 'हम काम-धंधेमें इतने फँसे रहते हैं कि हमें फुर्सत ही नहीं मिलती।' वास्तवमें देखा जाय तो वे भी प्रमादमें ही हैं; क्योंकि उनका अध्यात्मकी ओर आनेका कभी मन ही नहीं हुआ है। वे जहाँ बैठे हैं, उसीको अपना जीवन मान बैठे हैं।

परिवारमें कभी बच्चोंको गले लगाया और कभी उन्हें चूमा-चाटा, कभी पत्नीमें मन लगाया एवं कभी व्यापार-धंधेमें। बस, इसीको जीवन मान बैठे हैं। इसके अतिरिक्त भी कोई लक्ष्य हो सकता है, इसका हमें पता नहीं।

मनुष्यका वर्तमानमें न जीना सबसे बड़ा प्रमाद है, जो उसे ईश्वर-प्रसादसे वञ्चित कर देता है। मन हमारा अतीतका चिन्तन करता रहता है, जिसके कारण वर्तमानमें जीना ही नहीं होता।

जब हम भूत-भविष्यसे निकलकर वर्तमानमें आ जाते हैं और वर्तमानमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए, क्षण-प्रतिक्षण जीते हैं, ध्यानसे चलते हैं; किसी पुस्तकको यदि पढ़ते हैं तो ध्यानसे, तब यह सजगतापूर्ण व्यवहार हमें अन्तर्मुख होनेमें सहायक सिद्ध हो जाता है और हमारी सारी दौड़ती हुई वृत्तियोंको शान्त करनेमें उपयोगी हो जाता है।

किंतु होता क्या है कि हम स्नान करते होते हैं हरकी पैड़ीपर, किंतु उस समय यदि हम घरकी सोच रहे हैं तो हम हरद्वारमें हरकी पैड़ीपर नहीं, बल्कि घरमें ही हैं; क्योंकि मनुष्य वहीं होता है, जहाँ उसका मन होता है। शरीरसे मनुष्य चल रहा होता है, किंतु मनसे कहीं अन्यत्र ही होता है। जाग्रत्में हमारे कार्योंका एवं मनका समन्वय नहीं होता। हम कर रहे होते हैं कुछ एवं सोचते हैं कुछ। यह विषमता ही प्रमाद है, जो हमारा उत्कर्ष नहीं होने देती।

उत्कर्षके लिये मनुष्यको वर्तमानमें जीना होगा और जब वह वर्तमानमें जीने लगेगा, तब वह संतुलन-थामे साइकल-सवारकी तरह कोसों निकल सकता है। केवल उसको संतुलन समझमें आना चाहिये।

अगर हम चार कदम साइकल चलाना सीख लें तो कोसों जा सकते हैं। इसी प्रकार जिसने क्षणभर जीना सीख लिया, उसने जीना सीख लिया।

उत्कर्ष भूतकालके शोकसे निवृत्त होकर और भविष्यकी चिन्तासे रहित होनेपर होगा। फिर मनुष्यका मन कन्दुककी तरह हल्का हो जायगा और वह वर्तमानमें प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

जो मनुष्य उत्कर्षकी स्थितिको प्राप्त हो जाता है, उसके मनमें आता है कि मैं संत महापुरुषोंका सङ्ग कर उनसे परामर्श करूँ, शङ्काओंका समाधान करूँ, ताकि वे मुझे मार्गदर्शन करें। मैं उनके पास जाकर घंटों बैठूँ और वे मुझे उपनिषदोंका सार—ज्ञानमार्ग बतायें। उसे फिर अपने लक्ष्यके बारेमें स्पष्टीकरण हो जाता है और वह लक्ष्य-प्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक जिज्ञासा लेकर उसके लिये निकल पड़ता है।

महापुरुषोंके पास अनेक साधनाएँ हैं, जिनको जीवनमें उतारनेसे मनुष्य किसी निष्कर्षपर पहुँचता है। जब लक्ष्यकी स्पष्टता उसे दिखायी देती है और उसका एक-एक कदम लक्ष्यकी प्राप्तिमें लग जाता है, तब वह अन्तर्मुख होकर अपने मनके अंदर उठते विचारोंका निरीक्षण करता है, जिससे जन्म-जन्मान्तरोंसे दबे हुए विचार-विकार और संस्कार बाहर निकलने शुरू हो जाते हैं।

ताँबा, पीतल आदि धातुएँ जब गलायी जाती हैं, तब उनकी मलिनताएँ पिघलकर ऊपर आ जाती हैं; फिर एक गोल हैंडिलवाली पलीसे उसको बाहर निकाल फेंक दिया जाता है, जिससे अंदरकी धातु शेष रह जाती है। इसी प्रकार मनुष्यके अंदर भरे हुए जन्म-जन्मान्तरोंके विकार एवं संस्कारादि दबे पड़े हैं, जिन्हें हमने कभी निहारा भी नहीं। हमें पता ही नहीं है कि हमारे अंदर क्या है; परंतु जब हम अपने अन्तरका निरीक्षण करने लगते हैं, तब उसका निष्कर्ष निकल आता है। जब मनुष्यको यह पता चलता है कि वह कहाँ है, तब उसे जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचनेमें कठिनाई नहीं होती।

अगर कोई मनुष्य अपना घर भूला हो एवं उसे यही पता न चले कि मैं कौन-से गाँवमें हूँ, ऐसी दशामें उसे आगेके मार्गका पता नहीं चल सकता।

जब हम किसी लंबी यात्रामें जाते हैं, तब हमारे पास सारे भारतका 'रोड मैप' होता है, जिसके सहारे हमें पता चलता है कि हम कहाँ हैं और तब हमें गन्तव्यतक पहुँचनेमें सुविधा होती है। पर यदि कहीं हमें यही पता न चले कि हम कहाँ हैं, तब गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मनुष्य जब साक्षी होकर अपने मनमें भरे विचारों-संस्कारोंका निरीक्षण करता है एवं उन्हें देखता रहता है, तब मनके अंदर जन्म-जन्मान्तरोंके दबे हुए विचार-संस्कारादि उभरने शुरू हो जाते हैं; उन्हें मौका मिलता है बाहर आनेका एवं हमें उनके अस्तित्वका पता चलता है।

यदि घरके स्वामीको इस बातका पता चल जाय कि उसके घरके अमुक कोनेमें चोर छिपा हुआ है तो वह उससे बच निकलता है।

एक बार किसी साधना-कुटीरमें एक मेहमान ठहरे हुए थे। उनकी कोटकी जेबमें बटुआ पड़ा हुआ था। रातके १२ बजे एक चोर आया और वह कोटमें-से बटुआ निकालनेको ही था कि कोटके मालिकने करवट बदली। चोरने समझा कि मालिक जग गया है, जिससे वह बटुआ वहीं छोड़कर भाग गया। इतनेमें सोये मालिकको भी जाग आ गयी, उसने देखा कि बटुआ सुरक्षित है।

जब केवल करवट बदलनेसे ही चोरकी हिम्मत नहीं होती कि वह ठहर सके, तब जाग जानेपर तो चोर ठहर ही नहीं सकता। इसी प्रकार हमारे अंदर काम-क्रोधादिकी जो वासनाएँ जमा हो रही हैं, हम उन्हें देखनेसे घबराते हैं; क्योंकि हमने अपने मुँहपर जो मुखौटा चढ़ा रखा है, वह उतरने लगता है और हम सही रूपमें बाहर आने लगते हैं। फिर हमने जो लोगोंके सामने एक भिन्न प्रकारका दोहरा व्यक्तित्व प्रकट कर रखा था, जब कि हम अंदरसे बिल्कुल भिन्न हैं, वह जब उभरने लगता है, तब हम घबरा उठते हैं कि हमारी कमजोरियाँ बाहर न आ जायँ; किंतु जो मनुष्य साहस करके उन्हें देखता है, उसका जीवन वर्तमानमें जीने योग्य हो जाता है।

उसे अपने अंदर क्या-क्या भरा है, इसका पता चलता है और वह एक चतुर साधककी तरह इन विकारोंसे बचनेका प्रयत्न करता है।

मान लें, किसी जगह विष्ठा पड़ी हो और उससे दुर्गन्ध आ रही हो और हम उसपर मिट्टी डाल दें, तो क्षणिक तौर-पर दुर्गन्ध बंद हो जायगी; किंतु कुछ कालमें ही वह फिर आने लगेगी; क्योंकि वह दुर्गन्ध अंदर छिपी हुई है और जबतक वह विष्ठा वहाँसे साफ नहीं कर दी जायगी, तबतक वह दुर्गन्ध दूर नहीं होगी।

इसी प्रकार हम अपने विचारों, संस्कारों, इच्छाओं तथा कामनाओंको दबाते रहते हैं, जिसके लिये कभी मन्दिर चले जाते हैं और वहाँसे धार्मिक व्यक्तित्वका मुखौटा पहनकर आ जाते हैं और यदि सत्सङ्गमें चले जाते हैं। तो भक्त कहलाना शुरू कर देते हैं।

एक मनुष्य घरमें ठाकुरजीकी पूजा करता था; वह जब घरसे बाहर निकलता, तब खूब तिलक आदि लगाकर सज-धजकर निकलता, जिससे वह भक्तजीके नामसे प्रसिद्ध हो गया। ये सब धार्मिकताके मुखौटे हैं, जब कि अंदर छिपी वासनाओंका हम कभी निरीक्षण नहीं कर पाते।

हम मन्दिरमें जाकर दो माला घुमाकर या किसी सत्सङ्गमें जाकर अपने मनको समझा लेते हैं; किंतु जबतक हम मनका निरीक्षण नहीं करेंगे, तबतक मनका निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

निरीक्षण एक प्रकाश है, जिसके अंदर मन नग्न हो जाता है, उसके ऊपर डाले हुए आवरण सब उतर जाते हैं, एवं उसकी असलियत बाहर आ जाती है। यही है तीसरा कदम—निष्कर्ष, जहाँपर पहुँचकर मनुष्य समदर्शी होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

जिस मनुष्यका मन अतीतके बोझसे हल्का हो गया एवं भविष्यकी चिन्ताओंके तनावके प्रभावसे रहित हो गया है, वह मनुष्य स्वयंका निरीक्षण करते हुए स्वयंमें स्थित हो जाता है; उसका देखना सही हो जाता है, विचार विलीन हो जाते हैं, मन निखर उठता है और उसमें सम्यक् निर्विषयक बोध बना रहता है।

फिर उसके आगे कोई विषय नहीं, विषयीभाव नहीं, किसी प्रकारका अहंभाव भी नहीं, अहंकार भी नहीं और देहभाव भी नहीं।

ऐसा मनुष्य अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीकी स्थिति प्राप्त करता है।

आप नये सिरेसे अपना मूल्य-निर्धारण करें !

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आप कभी-कभी दूसरोंको शुभ भावनाओं और मङ्गल-कामनाओंसे स्निग्ध प्रेम-पत्र लिखते हैं, उनके प्रति अपनी सद्भावनाओंको उँडेल देते हैं, उन्हें आगे बढ़ने और उन्नति करनेके लिये प्रोत्साहित करते हैं, उनके प्रति मधुर भविष्यकी कामना करते हैं। इन पत्रोंमें आप चुन-चुनकर प्रभावशाली और उन्नायक शब्दोंका प्रयोग करते हैं। लिखते समय उल्लास और आशाकी भावनाओंमें झूमते रहते हैं। फिर उनसे वैसे ही उत्साहप्रद उत्तरकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। आपके प्रेमपत्र आपके व्यक्तित्वको प्रकट करते हैं। प्रेमपत्र गर्म हृदयके टुकड़े होते हैं।

आप प्रायः दूसरोंको प्रेमपत्र लिखते हैं। मेरा सुझाव है कि आप स्वयंको ही एक प्रेम-पत्र लिखें।

आप सुझावको सुनकर हँस रहे हैं।

'अजीब बात कह रहे हैं आप!'

'ठीक है। पर मेरा दृष्टिकोण समझिये।'

'प्रेमपत्र तो हम किसी दूसरे व्यक्तिको ही लिख सकते हैं। क्या स्वयंको प्रेमपत्र लिखना हास्यास्पद न होगा?'

'आपका सोचना ठीक है, पर इसे यों समझिये। अपने-आपको प्रेम-पत्र लिखनेका तात्पर्य है, अपने व्यक्तित्वका ईमानदारीसे पूरा-पूरा आदर करना, उसके प्रति अपना सद्भाव और प्रगाढ़ आत्मविश्वास प्रकट करना, अपने निहित देवगुणोंको समुन्नत करना और अपने आत्मबलमें उत्तरोत्तर वृद्धि करना, अपने सुनहरे सपनोंको वास्तविकतामें साकार करना।'

'खूब कही बात आपने! पहले आपका मतलब समझमें न आया था।'

'और नहीं तो क्या! यह बात बहुत सरल है कि आप स्वयं ही अपनी बहुत-सी त्रुटियाँ निकालें। अपनी कटु आलोचनाएँ करके अपनेआपको कोसते रहें। कुढ़ते रहें। अपनेको दीन-हीन मानें। चिन्तित और परीशान रहें और इस प्रकार अपना आत्म-विश्वास ही खो दें।'

'मेरे मनकी धड़कन ही पकड़ ली आपने।'

'तो आप अपने बारेमें चुपचाप क्या सोचा करते हैं? आज अपना मन तो खोलिये।'

'मैं कभी-कभी सोचता हूँ, क्या मैं आजन्म गरीब और बेरोजगार ही रहूँगा? क्या पढ़ने-लिखनेमें कमजोर बना रहकर फेल होता रहूँगा? क्या तिरस्कृत और लज्जित जीवन बिताता रहूँगा? क्या बड़े लोग या अफसर मुझे

सदा अपमानित ही करते रहेंगे ? क्या समाज मुझे कभी सम्मान न देगा ? क्या शरीरसे दीन-निर्बल ही बना रहूँगा ? क्या मेरा वैवाहिक जीवन कड़वाहटसे ही भरा रहेगा ? हाय ! क्या मेरे भाग्यमें यों ही धक्के खाना लिखा है ?'

'आपकी यह लँगड़ी-लूली विचारधारा एक मानसिक रोगकी सूचक है, भाई साहब !'

'लेकिन मैं तो शरीरसे पूर्ण स्वस्थ दीखता हूँ, डाक्टर महोदय !'

'शरीर ठीक है, पर मानसिकरूपसे आप आत्महीनताके रोगी हैं।'

'इस मानसिक कमजोरीके रोगी क्या सोचते रहते हैं ? तनिक विस्तारसे बतलाइये तो ?'

'वे दिन-रात अपनी दुर्बलताओंको ही सोच-सोचकर परीशान रहते हैं। छोटे-मोटे दुर्गुणोंको उछालकर अपने-आपको बुरी तरह कोसते रहते हैं। उनका संसार दुःख, तकलीफ और चिन्ताका बना होता है। वे अपनेको और भी कमजोर बनाते रहते हैं। अपने अहितमें सोच-विचार करके वे दिन-रात आत्महीनताकी ग्रन्थिको बढ़ाते रहते हैं।'

'क्या उन्हें दूसरा भी बुरा कहता है ?'

'लेकिन दूसरोंकी अपेक्षा वे खुद अपनेको कहीं अधिक कोसते रहते हैं। चाहे दूसरा उन्हें बुरा कहे या न कहे, पर वे अभागे तो स्वयं ही आत्म-भर्त्सनाका विषैला कार्य किया करते हैं।'

'तो क्या हम अपनी कमजोरियोंके प्रति जागरूक न रहें ?'

'मेरा सही दृष्टिकोण समझिये, भाई साहब ! यह ठीक है कि आप अपनी कमजोरियोंके प्रति जागरूक रहें। निर्बलताओंको जान लें। जो आदमी अपनी त्रुटियोंके प्रति असावधान रहता है, एक-न-एक दिन वे त्रुटियाँ ही बढ़कर उसे पूरी तरह दबा लेती हैं और वह गिरकर फिर ऊपर उठ ही नहीं पाता। मेरा मतलब है कि हम उन त्रुटियोंको जान ही न लें, बल्कि उनसे ऊँचे उठनेका दृढ़ और सबल प्रयत्न करें। अपनी कमजोरियोंको हटानेका डटकर प्रयत्न करते रहें। निराकरणमें अत्यधिक सावधानी बरतें। धिक्कारना हमेशाके लिये त्याग दें।'

'हाय ! मैं इतने दिन अपने आपको आत्म-यन्त्रणा देता रहा।'

'ठीक ही नतीजेपर आये हैं आप। क्या आपको पता है, इस विषयमें मनोवैज्ञानिक क्या कहते हैं ?'

'बताइये न कुछ नयी खोजें ?'

'एक प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ताने तो यहाँतक लिखा है कि आत्म-प्रताड़ना (अर्थात् अपने-आपको धिक्कारनेकी कमजोरी) यदि मनुष्यके स्वभावमें एक बार विकसित हो जाती है तो यह आदत आगे बढ़कर किसी-न-किसी प्रकारके जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोगका रूप धारण कर लेती है। इन क्लेशोंको प्राकृतिक रूप देनेके लिये मनुष्यका गुप्त मन ऐसा दूषित वातावरण उत्पन्न कर लेता है, जिससे वह उन क्लेशोंके वास्तविक कारणोंको न पहचान सके। वह उन्हें प्रत्यक्ष न मानकर किसी बाहरी पदार्थ, व्यक्ति अथवा घटनाके ऊपर जिम्मेदारी डाल देता है। दूसरोंको दोषी ठहराता है। भारी मानसिक संतापको भुलानेके लिये मनुष्य गुप्तरूपसे अनेक शारीरिक रोग पैदा कर लेता है।'

'पतेकी बात है यह तो। हम सब कोई अपनी निगाहमें ही अच्छे-बुरे हैं ?'

'और नहीं तो क्या ! हर व्यक्ति अपने ऊपर, अपने व्यक्तित्व, कार्यक्षमता, चरित्र और आचरणके ऊपर उसकी कीमतकी मुहर खुद लगाता है और याद रखिये, अपने लिये उसे वही मूल्य प्राप्त होता है, जिसका वह अपने आत्म-विश्वासके साथ दावा करता है। सच पूछा जाय तो मनुष्य स्वयं अपना मूल्य निर्धारण करनेसे ही बड़ा या छोटा बनता है।'

'ठीक है। बात सोचनेयोग्य है। उन्नतिकी नयी राह है।'

'फिर क्यों न आप नयी दृष्टिसे अपना मूल्य निर्धारण करें ? क्यों न अपना आत्मविश्वास और कार्यकुशलता बढ़ायें ? अपनी गुप्त योग्यताओंको पहचानें और बढ़ायें ? क्यों न नये सिरेसे अपनी कीमत लगायें ?'

'आपकी वह प्रेमपत्रवाली बात अधूरी ही रह गयी ?'

'हाँ, मेरा आशय सुनिये। कभी-कभी आप अपने विशिष्ट गुणों, अपनी प्रतिभा, अपनी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा, अपने गुणों और श्रेष्ठताओंके विषयमें भी चिन्तन किया करें। अपनी योग्यताओंके बारेमें सोचना उन्हें बढ़ानेका एक उपाय है। यह एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है।'

'कुछ और स्पष्ट करें।'

यह पद्धति प्रेम-पत्र-जैसी ही होनी चाहिये। आप अपने प्रिय पात्रको सहानुभूति, उदारता और आत्म-विश्वासकी स्याही-से प्रेमपत्र लिखते हैं, जिसमें अपने हृदयकी समस्त कोमल भावनाएँ उँडेल देते हैं। क्यों न आप स्वयं अपने आपको एक भावपूर्ण, उत्साहवर्द्धक, प्रेरणापूर्ण प्रेमपत्र लिखें। उसमें अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाओंका विस्तारसे स्पष्टीकरण करें। देखिये, आपके प्रेमपत्रकी भाषा यह हो सकती है—

'मेरे प्रिय साथी!

मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि आपने उच्चतम जीवन अपनाने और अपना पूर्ण विकास करनेका लक्ष्य स्थिर कर लिया है और जीवनमें उस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये तपस्या कर रहे हैं। आप स्वावलम्बी जीवन बितानेकी योजनापर निरन्तर कार्य कर रहे हैं। आप सब कुछ अपने निजी श्रम और सूझ-बूझसे प्राप्त करनेमें संकल्पशील हैं। आप बिना श्रम किये हुए बीते जीवनको व्यर्थ समझते हैं। मुझे आपकी यौवनश्री, स्फूर्ति और ताजगी देखकर संतोष होता है। आप अपना कार्य स्वयं करनेमें तनिक भी नहीं शर्माते। अपनी व्यक्तिगत शक्तिके सामने दूसरे बाह्य साधन और सहायताएँ व्यर्थ समझते हैं। आप हर दृष्टिसे जीवनके हर क्षेत्रमें उन्नति करते जा रहे हैं, इसका कारण आपका आत्मविश्वास ही है। आप संसारमें कर्मठ रहना चाहते हैं, यह उत्तम है।

'यह संतोषका विषय है कि आपका जीवन उच्च उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये बीत रहा है। आप अपने हाथोंसे कल्याणकारी कार्य ही करते हैं, अपने मस्तिष्कसे शुभ चिन्तन करते हैं, अपने पाँवोंसे पवित्र स्थानोंपर जाते हैं और अपने सद्ज्ञानको व्यावहारिक जीवनमें उतारते हैं। ऐसे दृढ़ और शुभ निश्चयवाले व्यक्तिकी उन्नति अवश्यम्भावी है।

आपकी भावी प्रगतिका आकाङ्क्षी—'मैं'

आप ऊपर लिखे पत्रको कई बार पढ़ें। प्रतिदिन पढ़ें और उससे सदा आगे बढ़नेका अपना सत्संकल्प दृढ़ करते रहें। इस शुभ चिन्तनसे और बार-बार गुणोंके चिन्तन और अपनानेसे आपके मनोबलकी अभिवृद्धि होती है। सद्गुण स्वयं विकसित होने लगते हैं। उच्च-चिन्तनके वातावरणसे खिंचकर सद्गुण एकत्र होते हैं।

आपमें उच्चगुणोंकी खान भरी पड़ी है। उन्हें जगाकर तथा विकसितकर आप अपना और संसारका बड़ा कल्याण कर सकते हैं। पर यह दृढ़ भावनासे होना चाहिये। याद रखिये, समृद्धि और विकासकी भारी सम्भावनाएँ आपमें बीजरूपसे विद्यमान हैं; पर उन्हें वह बार-बार चिन्तन और तदनुकूल व्यवहारसे ही विकसित कर सकता है। हमें मनुष्य-जीवन इसलिये मिला है कि हम अपने प्रत्येक दिये हुए सद्गुणका पूर्ण विकास करें।

मेरा-तेरा

दो छोटी लड़कियाँ मैदानसे कुछ छोटे-छोटे गोल-गोल पत्थर उठाकर लायीं एवं आँगनमें बैठकर खेलने लगीं।

कुछ देरतक तो वे खेलती रहीं; पर बादमें एक लड़कीने दूसरीसे कहा—'तेरा दावँ चला गया।' दूसरी बोली—'तू झूठ कहती है।' दोनों आपसमें झगड़ने लगीं। पहली लड़कीने दूसरी लड़कीसे सब पत्थर छीनने चाहे, पर उसे केवल दो ही पत्थर हाथ लगे। अब न तो पहली लड़की दो पत्थरोंसे खेल सकती थी, न दूसरी बाकी पत्थरोंसे। पहली लड़कीने दूसरीको गाली दी, तो दूसरीने पहलीको कहा—'तेरा बाप मर जाय, तेरी माँ मर जाय'''।' इन दोनोंका झगड़ा चल ही रहा था कि कमरेमेंसे दोनोंकी माताने आवाज लगायी—'चलो, रोटी खा लो, रोटी बन गयी।' दोनोंने अपने-अपने पासके पत्थर सामने मैदानमें फेंक दिये और अपने-अपने कमरोंमें चली गयीं।

इस संसारकी भी यही दशा है। साथ कुछ नहीं आया। मनुष्य यहींपर सब कुछ इधर-उधरसे बटोरकर इकट्ठा करता है। फिर लड़ाई-झगड़े चलते हैं। धनके बँटवारेके लिये कोर्टतकमें जाते हैं और जब मौत आकर बुलाती है, तब सब कुछ यहीं छोड़कर चले जाते हैं। जिसे जिंदगीभर मेरा-तेरा कहा, वह सब यहीं रह जाता है। —श्रीमोतीलाल सुराना

जीवनकी सार्थकता

(लेखक—दण्डिस्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज)

भगवत्प्राप्तिसे ही मनुष्यदेहकी सार्थकता होती है। पूर्ण जीवन वही है, जिसका पर्यवसान भगवत्स्वरूपानुभूतिमें हो। अनन्त सत्, अनन्त बोध और अनन्त सुख भगवान्‌का स्वरूप हैं। सर्वव्यापक होनेपर भी हृदयमें विशेषरूपसे अभिव्यक्त होनेके कारण उनको सर्वभूतगुहाशय अर्थात् समस्त प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाला कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्यका आलोक व्यापक होनेपर भी जल और काँच आदिमें अधिक स्पष्ट होकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र समरूपसे अवस्थित होनेपर भी अन्तः-करणमें अधिक स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होते हैं।

किंतु जैसे जल या दर्पणके मलिन होनेपर सूर्यालोक उसमें सुस्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो पाता, उसी प्रकार अन्तः-करणमें जब राजसिक-तामसिक भावोंकी बहुलतासे मलिनता बढ़ जाती है, तब भगवत्स्वरूपकी सुस्पष्ट अनुभूति नहीं होती। सत्त्वगुणके उत्कर्षसे जब राजसिक-तामसिक मनोभाव दब जाते हैं, तब अन्तःकरणमें भगवत्साक्षात्कारकी योग्यता आती है। जैसे घटका अनुभव करनेके लिये अन्तः-करणकी वृत्ति नेत्रके द्वारसे घट-देशमें जाकर घटको अपने भीतर लाती है, इस प्रकार भगवान्‌को कहीं बाहरसे लानेका प्रयास नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार घटको आकाशसे पूरित करनेके लिये बाहरसे आकाशको लानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, घटमें भरी हुई मृत्तिका या बालूको उसमेंसे निकाल देना ही उसे आकाशसे पूरित करना होता है, उसी प्रकार भगवत्स्वरूपकी अनुभूतिमें बाधक मनोभावोंको हटा देना ही भगवान्‌को हृदयमें बसाना है।

भगवत्प्रेमके लिये भी हमें भगवान्‌से कोई नवीन सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। सब क्षेत्रोंके क्षेत्रज्ञ, प्राणोंके प्राण, सर्वभूतान्तरात्मा भगवान् किसे प्रिय नहीं हैं? पर जब भगवान्‌की परम प्रेमास्पदताको विस्मृत करके जीव संसारमें अहंता-ममताके कारण प्राणी या पदार्थोंके प्रति राग-द्वेषसे अभि-निविष्ट हो जाता है, तब उसका स्वाभाविक भगवत्प्रेम मेघोंसे सूर्यके सामान ढक जाता है। किंतु जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है, भगवत्प्रेमकी अनुभूति विशद होती जाती है।

इसलिये परमार्थके साधकको अपनी पूरी शक्ति अन्तः-करणके शोधनमें ही लगानी चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार योगीजन शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिके द्वारा फलासक्ति छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये निरालस्य होकर शास्त्रविहित कर्म करते हैं। अन्तःकरणका इन्द्रिय-विषय-संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंसे हटकर भगवत्प्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाना, उसकी शुद्धिका प्रथम लक्षण है। अनुकूल विषयोंमें रागके हटनेपर प्रतिकूल विषयोंके प्रति द्वेष दूर होकर उदासीनता आ जाती है। उदासीन होकर ही संसारको भुलानेमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। राग-द्वेषके रहते संसारको नहीं भुलाया जा सकता। अपने सुखके लिये बाह्य विषयोंके पराधीन हो जाना सुखके साधकमें राग और बाधकमें द्वेषको दृढ़ करता है। यही दुःखका मूल और जीवका बन्धन है। जिस कूपमें भीतरका स्रोत नहीं, उसे बाहरके जलसे कबतक भरा जा सकता है? सुखके लिये इसी परावलम्बनने जीवको दर-दरका भिखारी बना रक्खा है। अन्धकारमें टटोलनेके समान वह संसारमें सुखकी खोज कर रहा है।

सुखके बाह्य भौतिक उपकरणोंकी परतन्त्रता छोड़कर नित्य-निरन्तर रहनेवाले सुखकी अभीप्साके उदयसे राग-द्वेषका बन्धन शिथिल होता है, औदासीन्य सुस्थिर होता है। ऐसी अवस्था हो जानेपर चित्तके समाहित होनेमें विलम्ब नहीं लगता। सूक्ष्म और एकाग्र चित्तसे हृदयमें परमात्माका साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

भगवत्साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति आध्यात्मिक उन्नति-की चरम सीमा है। आध्यात्मिक उन्नतिका प्रथम सोपान आत्मनिरीक्षण है। हृदयको शान्त-समाहित करके रागादि दोषोंसे अप्रभावित बुद्धिके द्वारा अपनी स्थितिकी समीक्षाका नाम 'आत्मनिरीक्षण' है।

व्यवहार और परमार्थ, दोनोंमें ही इसकी आवश्यकता पड़ती है। अपनी वर्तमान स्थितिका बोध और जीवनके यथार्थ लक्ष्यकी स्मृति मनुष्यको संसारके प्रवाहमें पड़े हुए प्राणियोंके अन्धानुकरणसे बचाती है। जब हम अहंता-ममतामें डूबे हुए प्राणियोंके दृष्टिकोण या काम-क्रोधादि विकारोंसे आविष्ट बुद्धिके द्वारा अपने सम्बन्धमें सोचते हैं,

तब हमें अपनी स्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। गीतामें एकान्त देशका सेवन और जनसमूहमें अरतिको ज्ञानका प्रमुख साधन माना गया है। एकान्तमें बैठनेसे साधकको अपने एकाकीपनका अनुभव होता है तथा जनसमूहमें अरतिसे दूसरोंके दृष्टिकोणसे मुक्त होकर अपने सम्बन्धमें विचारका अवसर मिलता है। प्रत्येक साधकको प्रतिदिन थोड़ी देर एकान्तमें बैठकर आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। थोड़ी देरके लिये सबसे तटस्थ हो जानेपर हमें अपने मनोराज्यके आधार-पर अपने मानसिक स्तरका भी पता चलने लगता है। हमें कहाँ पहुँचना है और हम कहाँ हैं, इसका बोध आत्म-निरीक्षणसे ही होता है।

जप-ध्यान और साधुसङ्गके संस्कारोंको लेकर बैठनेपर ही इसमें सफलता मिल सकती है; अन्यथा निद्रा, आलस्य और अनिश्चयकी दशामें पड़ने तथा मनोराज्यके प्रवाहमें बह जानेकी भी इससे सम्भावना है। आलस्यका त्याग, कर्तव्यका निश्चय, अदम्य उत्साह, साधनाभ्यासकी निरन्तरता और बुद्धिकी निर्मलता तथा एकाग्रताको लेकर ही हम अपने जीवनको आध्यात्मिक बना सकते हैं। अध्यात्म-परायणता ही नित्य सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके द्वारा सुखके लिये भौतिक विषयोंकी पराधीनतासे छुटकारा दिला सकती है। भौतिक विषयोंकी पराधीनता ही वैयक्तिक, सामाजिक जीवनके असामञ्जस्य और अशान्तिका भी मूल है।

हमें अपने परम्परागत आध्यात्मिक संस्कारोंको सत्सङ्ग तथा अध्यात्म-शास्त्रोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे शक्ति-शाली बनाकर अपने इस लक्ष्यकी ओर निरन्तर बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये। प्रेषक—श्रीबाबूरामजी बाजपेयी

उदारता

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

'श्रीकृष्णः शरणं मम'—इस गुरुमन्त्रका रात्रिको सोते समय शंकर नित्यकी भाँति जप करने लगा; पर आज जपमें मन नहीं लग रहा था, निद्रा भी नहीं आ रही थी; तड़पते और करवटें बदलते रात बीती।

अरुणोदयके पूर्व ही वह शय्या त्यागकर चल पड़ा—अपने स्वामी दयालके भवनकी ओर। तन क्षीण, मन मलीन और पश्चात्तापके कारण भवनकी सीढ़ियाँ चढ़ना भारी हो रहा था। किसी तरह ऊपर चढ़कर ज्यों ही वह कपाट खोलने लगा, त्यों ही उसके चित्तको एक धक्का-सा लगा—"कवि दयाल आरामकुर्सीपर बैठे 'निधि' दैनिक पत्र पढ़ रहे होंगे। मैं कैसे सम्मुख जाकर नोटको वापस पेटीमें रख सकूँगा? हाय-हाय! मैंने पुत्रके लिये चप्पल लानेको केवल दस रुपयेके कागजके टुकड़ेपर क्यों नीयत बिगाड़ी? परमेश्वरने अबतक मुझे बेदाग रक्खा था! किस पापके फल-से मैंने स्वामीके दस रुपये चुराये! 'जो कनका चोर, वह मनका चोर' इस कहावतके अनुसार मुझे लोग पक्का चोर समझेंगे। प्रभु! अब लज्जा आपके हाथ है। प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा।"

यह सोचता हुआ शंकर किवाड़ खोल भीतर पहुँचा तो देखा, वहाँ सभी सो रहे थे। बड़ा ही प्रसन्न हुआ वह और उसने दस रुपयेका नोट चुपकेसे उसी संदूकमें वापस रख दिया, जहाँसे उसे चुराया था।

इधर, ज्यों ही भक्त कृपालने दस्तक दी, कवि दयालने नेत्र मसलते हुए शय्या-त्याग किया। कृपालने भीतर प्रवेश कर 'निधि'का ताजा अङ्क दयालके हाथमें देते हुए कहा—'देखो आपके काव्यकी प्रशंसा।'

'हाँ जी, रातका कविसम्मेलन भोर होते-होते समाप्त हुआ। आप जानते हैं, मेरी रचनामें पद्माकर कवि-सी अत्युक्ति नहीं होती। मैं भक्त कुम्भनदासजी-जैसा निःस्पृही और स्पष्टवक्ता कवि हूँ। इसीसे श्रोताओंने मेरा कविता-पाठ बहुत ही पसंद किया।'

दोनोंमें यह वार्ता चल ही रही थी कि दयालके बालकोंने आकर रोते हुए कहा—'पिताजी! हम चाय कहाँसे पीयें—घरमें नहीं है?'

बालकोंको दुलारते-पुचकारते कवि बोल उठे—'जाओ, पेटीमेंसे दस रुपयेका नोट लेकर चायका सामान मँगा लो।' यह सुनकर बालकोंको जितना हर्ष हुआ, उससे

अधिक सेवक शंकरको हुआ। उसने मनमें निश्चय किया कि 'अपने स्वामीके अर्थ-संकटमें सहायक होनेके हेतु आगामी माससे मैं अपने वेतनमें दो रुपये मासिककी कटौती करवा लूँगा।'

कृपाल बोला—'भाई, तुम्हें सदा अर्थ-संकट रहता है। तुम श्रद्धा-विश्वासपूर्वक श्रीगोपालसहस्रनामके ११ पाठ नित्य 'श्रीपतिः श्रीनिधिः श्रीमान् मापतिः प्रतिराजहा। इस मन्त्रका सम्पुट लगाकर किया करो। निश्चय ही तुम्हें अचानक अर्थ-प्राप्ति होगी। यह परीक्षित प्रयोग है।'

दयाल तुरंत बोल उठे—'अजो, ऐसे कई प्रयोग मैं जानता हूँ, पर मुझे धन-प्राप्तिकी इच्छा जो नहीं है! मेरी रचनाओंकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है। कविके लिये यह क्या कम महत्त्वकी बात है?'

कृपालके चले जानेपर थोड़ी देर शान्त रहनेके पश्चात् दयालका चिन्तन यों चला—'मित्रके सामने मैं निःस्पृह तो बन गया; परंतु गृहस्वामीका मुख्य कर्तव्य होता है अपने आश्रितजनोंको हर प्रकारसे आराम पहुँचाना। आजसे मैं अर्थोपार्जनका विशेष प्रयत्न करूँगा और साथ ही 'श्रीगोपालसहस्रनाम'का पाठ भी प्रारम्भ करता हूँ।'

इन विचारोंके साथ कविवर दयाल श्रीद्वारकाधीशके उत्थापनके दर्शन करने चले गये। वहाँसे लौटनेपर उन्होंने कृपालको अपने भवनसे निकलकर जाते हुए देखा। 'मेरी अनुपस्थितिमें यह मित्र कैसे मेरे घरपर आया था?' इस सम्बन्धमें पत्नीसे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि वे बालकोंके चाय-पानी हेतु ५०) रु० दे गये हैं। सुनते ही दयालने चिढ़ते हुए कहा—'तुम जानती हो, हम स्वाभिमानी हैं; किसीकी यों ही सहायता कभी स्वीकार नहीं करते, चाहे भूखे-प्यासे रह जायँ।' यह कह दयाल ५०) रु० ले कृपालको लौटानेके निमित्त उसके दूर स्थित भवनपर गये।

कृपालने यह कहकर रुपये नहीं लिये कि 'भाई, मैं अपने ही बच्चे समझकर रुपये दे आया हूँ। लौटानेसे मुझे बड़ा ही क्लेश होगा।' शर्त यह ठहरी कि कविसम्मेलनके पुरस्कारमेंसे कभी ये रुपये लौटा दिये जायँगे।

दयालने घर आकर पत्नीसे कहा—'देखो, अपना पुराना सेवक शंकर कितने परिश्रम और ईमानदारीसे थोड़े वेतनमें प्रातःकालसे संध्यातक अपना प्रत्येक कार्य करता रहता है। आगामी माससे इसके वेतनमें अवश्य वृद्धि कर देंगे।' पत्नीने हँसकर कहा—'क्या हजार रुपये कहीं से मिल गये हैं।'

शंकर यह सब बातें सुन रहा था और मनमें कह रहा था—'नहीं-नहीं, मैं स्वामीको और भी संकटमें कभी नहीं डालूँगा; प्रसङ्ग आयेगा तो सहर्ष अस्वीकार कर दूँगा।'

इतनेमें ही बाहरसे डाकियेने आवाज दी—'कविजी! बीमा है।' दयालने एक हजार एक रुपये ज्यों ही लिफाफेमेंसे निकाले, पति-पत्नी आश्चर्यचकित हो गये। प्रेषकका नामतक नहीं। शंकर तो यह खबर पाकर बहुत ही प्रसन्न हुआ, पर वेतन-वृद्धि न करानेका उसका निश्चय टला नहीं।

कुछ दिन रीते बीते। इस अवधिमें कविवर दयालने कई नयी रचनाओंका निर्माण भगवत्-स्मरणसे बचे समयमें कर लिया। एक दिन मुरादाबादसे, महाकवि-सम्मेलनमें सम्मिलित होनेका तार उन्हें मिला। प्रस्थानके समय रेलवे-स्टेशनपर अनेक लूले-लँगड़े, गूँगे-अंधे याचकगण उनके पीछे पड़ गये। सबको उन्होंने थोड़ा-थोड़ा पैसा देकर संतुष्ट किया। मुरादाबादमें कविजीका जोरदार स्वागत हुआ और उसके अनुरूप ही 'आजकी भुखमरी' 'लोगोंकी स्वार्थपरता एवं लोलुपता' तथा 'शासनकी अनीति' आदिके विरोधमें उनकी जोरदार रचनाएँ सुनकर पण्डालके श्रोता बार-बार तालियाँ बजाकर उनका अभिनन्दन करते हुए आनन्द-विभोर हो उठे। दयालजीको सर्वापेक्षा अधिक पुरस्कार मिला।

मनमें कई संकल्प करते दयाल घर लौटे। विदाईके समय लोग उन्हें पुष्प-मालाएँ पहना रहे थे—तभी एक ध्वनि आयी—'यह पुष्पोंका नाश—धनका नाश व्यर्थ है। इस पैसेसे भूखोंका पेट भरो।'

बीचके स्टेशनपर ज्यों ही गाड़ी रुकी, यात्रियोंकी भागदौड़ मच गयी। एक महिलाके करुण-क्रन्दनकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया। दयालजीने ट्रेनसे नीचे उतरकर महिलाका सब हाल ज्ञात किया। एक पाल्नीय कर्तव्यके वश हो, गाड़ीसे अपना सामान उतार, स्वयं उसे उठाया और महिलाको साथ ले, उसके सामानकी तलाशमें चले। एक युवक ताँगेमें सामान लिये जा रहा था। महिला मोहिनीने पहचान लिया। कविजीने बड़ी बहादुरी, तत्परता और समझदारीके साथ युवकसे सामान ले मोहिनीको सँभलाया और विश्रामालयमें मोहिनीको आरामसे ठहराकर आप भी वहीं ठहर गये। दूसरी गाड़ीसे दोनोंने प्रस्थान किया। वीरपुर

स्टेशनपर उतर मोहिनीको उसके घर सुरक्षित रूपसे पहुँचाकर कविजी रवाना हुए अपने भवनकी ओर सुल्तानपुरकी दूसरी ट्रेनसे। मोहिनीके घरवालोंको प्रत्युपकार करनेका अवसर ही नहीं दिया उन्होंने। विलम्ब, परेशानीका विचार न करके कर्त्तव्य-पालन करनेपर उनकी आत्माको बड़ा संतोष था।

'अब तो पड़ोसिन माँ शारदाको प्रथम प्रणाम कर गृह-प्रवेश करूँगा' यह विचार करते दयाल जा रहे थे, इतनेमें ही वृद्धा शारदा सामने आकर दीनभावसे धीरे-धीरे बोली—'बेटा! तेरी धर्मकी बहन माधुरीके विवाहकी जुटायी सभी सामग्री चोर चुरा ले गये। बरात कल आनेवाली है, हाय! अब मैं क्या करूँ?'

यह सुनकर दयालके दयालु मनमें बड़ा दुःख हुआ, उदारता उमड़ आयी। उन्होंने तत्काल पुरस्कारकी आधी निधि चुपचाप माँके हाथोंमें थमाते हुए कहा—'कम पड़े तो मुझसे और ले लेना।' माँ शारदाने वह द्रव्य लेनेसे बहुत इन्कार किया, पर कविवरकी उदारवृत्तिके सामने उसकी एक नहीं चली।

गलीका मोड़, अन्धकारका आगमन। ज्यों ही दयालजी अपने भवनकी ओर बढ़े, त्यों ही एक युवकने छुरा दिखाकर उनसे रुपये छीनना चाहा। पहले तो दयालजी-का धीरज छूटने लगा, किंतु—

'संकट कटै मिटै सब पीरा। जो सुमिरै हनुमत बलबीरा॥' (हनुमानचालीसा) इस पदका स्मरण आते ही उनमें साहसका संचार हो गया और वे निर्भीकतासे बोले—'मान जाइये आप। देखा है, यह मेरा मोटा लंबा रामलट्ठ! छुरा चलानेके पहले तुम्हारी खोपड़ी·······।' दयाल-जीका वाक्य पूरा भी नहीं होने पाया था कि एक युवक चिल्लाता हुआ आकर छुरा दिखानेवालेसे कहने लगा—'भाई गामू! माँ बेचैन हो रही है, शीघ्र चलो घरको।' यह सुनते ही गामू तुरंत छुरेको नालीमें फेंककर दौड़ा और माँका उपचार किया उसने—अपने दुष्कर्मपर पछताते और भगवान्से दीनभावसे प्रार्थना करते हुए। हृदयकी सच्ची प्रार्थनासे उसकी माँ स्वस्थ हो गयी। मातृ-भक्त था वह।

दयालजी प्रसन्न होते हुए घर पहुँचे और पत्नीको सारा वृत्तान्त सुना दिया। हर्षातिरेकसे पत्नी बोली—'लाइये वह हाथ, जिससे आपने परोपकारके कार्य किये! मैं उसे हर्षपूर्वक चूम लूँ।' यह सुन दयालजी मनमें बहुत ही प्रसन्न हुए कि मेरी पत्नी मेरी उदार वृत्तिमें सहयोगदात्री है!

× × × ×

'अरे भाई! तुम कौन हो, बाजारके बीचमें मेरे पाँव क्यों पकड़ लिये हैं? छोड़ो।' युवकने कवि दयालजीके पाँव और भी दृढ़तासे पकड़ उन्हें अश्रुओंसे भिगोते हुए कहा—'पहले आप यह आश्वासन दीजिये कि आपने मेरा अपराध पूर्णतया क्षमा कर दिया।'

दयालजी आश्चर्यचकित हो बोले—'भाई! कैसा अपराध, कौन तुम? थोड़ा बताओ तो।' युवकने सिर उठाते हुए कहा—'पहचानिये, मैं वही पापी हूँ, जो छुरा दिखाकर आपसे संध्या समय रुपये छीनना चाहता था। वर्ष बीत चुके हैं, पर वह पापाग्नि मेरे हृदयमें अभीतक जल रही है।'

'अरे भैया गामू! भूल जाओ उस घटनाको। अब पश्चात्तापसे तुम्हारा हृदय निर्मल बन गया है। यही प्रभुकी ओरसे क्षमा है। निर्भय होकर सत्कार्योंमें जुट जाओ। यही मेरी आसीस है।'

गामूने शेष जीवनमें सत्कार्य करते रहनेकी प्रतिज्ञा की; किंतु इतनेसे उसको संतोष नहीं हुआ। उसने ५०१) रु० जेबसे निकालकर दयालजीके चरणोंमें रख हाथ जोड़ कहा—'कृपया इन्हें स्वीकार करें।' दयालजीके अस्वीकार करनेपर गामूने फिर कहा—'मैं चाहता हूँ कि आपकी रचनाएँ देश-के उत्थानमें सहायक हों·······'दयालजी बीचमें बोल उठे—'क्या यह उसका पुरस्कार है। भाई! मैं तो सुकवियोंके चरण-रजकी भी रज हूँ। आप इस निधिसे दीन-दुःखियोंका भला कीजिये और भगवद्भजन कर अपना जीवन सुधारिये।' गामूने यह उपदेश मानकर ऐसा ही किया। उसके भगवत्परायण हो जानेसे उसके कुमार्गगामी मित्र भी भगवत्प्रेमी बन गये।

उधर शंकर सचमुच ही अपने वेतनमेंसे २) रुपये वेतन मासिककी कटौती करवाकर दूने उत्साहसे दयालजीके घरका काम-काज करने लगा, मानो अपढ़ होनेपर भी उसको सेवा-धर्मका पूरा-पूरा ज्ञान हो।

कविवर दयाल अब भी 'श्रीगोपालसहस्रनाम'का पाठ नियमित रूपसे मन लगाकर करते हैं। अर्थाभाव अब उन्हें नहीं रहा। भगवत्कृपासे गृहस्थी सुखपूर्वक चल रही है और दिनोंदिन श्रीभगवान्की भक्तिमें दृढ़ता आती जा रही है। भगवान्की महती कृपासे उनकी वाणीमें अब ऐसी शक्तिका समावेश हो गया है कि जिससे कई दुःखियोंका दुःख दूर हो गया है। पर वे सिद्ध नहीं बन बैठे हैं, अभिमानसे सदा दूर रहते हैं और जब-जब मित्र कृपाल मिलते हैं, तब-तब इसका सारा श्रेय उनको दिया करते हैं।

गतवर्षके श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(कार्तिक पूर्णिमा २०२७ से चैत्र पूर्णिमा २०२८ तक)

बड़े आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष हमारी प्रार्थनापर ध्यान देकर 'कल्याण' के भगवन्नामप्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाएँ स्वयं जप करते हैं तथा अन्यान्य महाभाग्यवान् महानुभावों तथा महाभागा देवियोंको प्रेरित करके उनके द्वारा जप कराते हैं और उसकी सूचना हमें देते हैं। प्रतिवर्ष 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस षोडश मन्त्रके बीस करोड़ जपके लिये प्रार्थना की जाती है; परंतु भाग्यशाली जपकर्ताओंका उत्साह इतना अधिक होता है कि प्रतिवर्ष ही जप-संख्या चालीस-पचास करोड़ हो जाया करती है। किंतु खेदकी बात है कि गतवर्ष हमारे यहाँ मन्त्र-संख्या केवल १७, २२, ८३, ५०० (सत्रह करोड़, बाईस लाख, तिरासी हजार, पाँच सौ) तथा नाम-संख्या २, ७५, ६५, ३६,००० (दो अरब, पचहत्तर करोड़, पैंसठ लाख, छत्तीस हजार) ही अङ्कित हो पायी है। इसका मुख्य कारण हमारी समझमें यह प्रतीत होता है कि गतवर्ष सूचना प्रकाशित होनेके पश्चात् हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी अत्यधिक अस्वस्थ हो गये और 'कल्याण' के द्वारा तथा व्यक्तिगत पत्रोंद्वारा जपकर्ताओंको जपके लिये विशेष प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो सका; परंतु जितना जप हुआ है, वह भी पर्याप्त है और इस महान् पुण्यकार्यमें जिन्होंने सहयोग दिया है, हमलोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं और इस कृपाके लिये हम उनको श्रद्धावनत हृदयसे बार-बार नमस्कार करते हैं। श्रीभगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे हमारा विशेष अनुरोध है कि इस वर्ष यह संख्या पिछले अनेकों वर्षोंकी भाँति बहुत अधिक होनी चाहिये और इसके लिये उन्हें अमीसे प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित इस 'भगवन्नाम-जप-यज्ञ'में जो महानुभाव अपनी आहुति डालेंगे, उन्हें निश्चित ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त होगी। नाम और नामीमें अमेद है, नामका आश्रय भगवान्‌का आश्रय ही है।

गतवर्ष हुए जपके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(क) बहुत-से लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

(ख) षोडश मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(ग) कई लोगोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(घ) विदेशसे भी कुछ सूचनाएँ आयी हैं। भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप नहीं हुआ हो।

(च) बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(छ) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिक रूपमें।

इसी प्रकार गतवर्ष ८५० स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमारे यहाँ नोट हुई है। गाँवोंके नाम अङ्कित करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, फिर भी रोमन लिपिमें नाम लिखे रहनेसे उन्हें देवनागरी लिपिमें करनेपर उच्चारणमें भेद हो सकता है। बहुत-से ऐसे पत्र हैं, जिनमें नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आते। पूरी चेष्टा रक्खी गयी है कि नाम ठीकसे पढ़े जायँ, पर इसमें भूल सम्भव है। कुछ पत्र डाक-विभागकी गड़बड़ीसे, कुछ हमारे कार्यालयकी लापरवाहीसे चढ़े बिना भी रह सकते हैं। जिन स्थानोंके सम्बन्धमें ऐसी भूलें हुई हों, वहाँके जप-कर्ता महानुभावोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। वे कृपया हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए अपनी उदारतावश इसके लिये विचार नहीं करेंगे।

स्थानोंकी सूची

अकोला, अग्रहारम, अचलजामू, अजनौली, अजबपुरा, अजमेर, अजिमगंज, अठेहा, अड़सीसर, अणूवासा रोहढ़, अन्तपैठ, अनारा, अनूपगढ़, अफजलपुर, अभयपुर, अमझेरा, अमलापुरम, अमारुत, अमिलिया, अम्पोल्ड, अम्बा, अम्बाला, अम्बाह, अम्बिकापुर, अमृतसर, अरकार, अरड़का, अरचैला, अरसारा, अर्जुननगर, अर्जुनपुर, अलसीसर, अलीराजपुर, अशोकपुर, अस्तरंग, असवार, अहमदाबाद, आगरा, आगासौद, आठगढ़, आतारा, आनन्दनगर, आनन्दपुर, आपापारा, आबूरोड़, आमेठ, आरा, आरिटार, आवगिलासायर, इच्छेबस्ती,

इटकी, इटारसी, इटावा, इटौंजा, इन्दौर, इलाहाबाद, ईरा, उगरपुर, उचौरी, उचौली, उछटी, उडीपी, उदयपुर, उधैतो, उमरियापान, उरदान, एकमा, एकडंगा, ऐरनपुराकी छावनी, ओरमाँझी, औदलागुड़ी, औरंगाबाद, कइलगढ़, कंचाजनगर, कंटालिया, कच्छ, कजोराग्राम, कटनी, कटंगी, कठडूबड़ा, कड़बीघा, कथारा, कदौरा, कनर्जी, कनासिया, कन्नौद, कपरोल शिरोमन, कपूरथला, कमासीन, करगीरोड, करवाड़, कर्नलगंज, कलकत्ता, कलाना, कल्याण, कलूगा, कवर्धा, कवल, कागूपाड़ा, काँके, काँचीकरला, काँजिया, काँठ, कादरगंज, काँधला, कानपुर, कामठी, कालीम्पोंग, काशीपुरा, किछा, किराना, किराप, कुवाड़ी, कुटासार, कुठौन्द, कुण्डी, कुनकठरी, कुमकुरी, कुमना, कुम्हियाँ, कुरथरा, कुरुक्षेत्र, कुँवर कौटड़ी, कुसुंभी, कुसौल, कूचविहार, कूंडिया, कूण्डी, कवैराली, केशरीगंज, केशवाँ, केशुठ, केसिंगा, कोईराला, कोकलकचक, कोंच, कोंची, कोट, कोटड़ी, कोटफतुही, कोटरी, कोटलाखुर्द, कोटा, कोडलाइगरंगा, कोरगवाँ, कोलकुलपल्ली, कोल्हापुर, कोसली, कोहरा, कौड़ियागंज, कौवाहा, कौलेडिहरी, खरगोन, खजीरपुर, खजूरी कटवारा, खड़हरा, खरकड़ीकला, खरसिया, खरिआरराज, खरियार, खरोड़, खरौसा, खरट, खरौना, खाईडोरा, खाराघोड़ा, खीरा, खेडरटिकतपुरा, खैराबाद, खोरी, खौड़, गंगानगर, गंगापुर, गंगोह, गंजबासौदा, गऊशाला, गड़ौराबाजार, गढ़र, गढ़ी, गया, गरीफा, गवाखेड़ा, गाजियाबाद, गाजीपुर, गाडाडीह, गिरगाद, गिरगाँव, गिरिजास्थान, गिरिडीह, गिरी, गुआकौला, गुजरा, गुड़गाँव, गुडेवल्लूर, गुना, गुरसराय, गोईंदा, गोण्डल, गोधनी, गोंडा, गोरखपुर, गोलाकोट, गोलाघाट, गोविन्दपुरा, गोसी अमनोर, गोरीहार, गौनौन, ग्वालियर, घरिहा, घाटशिला, घाटंजी, घिरहाँ, घुइहर, घुबड़ी, घूघराँ, घोठिया, घोड़ाडोंगरी, घोडाँर, चकराता, चकौंध, चण्डीगढ़, चन्दनपट्टी, चन्दनपुराखुर्द, चन्दनभटी, चन्दा, चन्द्रापुर, चम्पानगर, चरखीदादरी, चरलिया, चरलिया ब्राह्मणान, चरेरी, चाँदगढ़, चाँदपुर-गन्नेश, चाँदूर, चारखेड़ा, चिंचोली, चितरंजन, चितौरा, चिरैयाकोट, चिल्बरिया, चिलीम, चोलापुर, छतरपुर, छपकटिया, छपरा, छोपटी, छापर, छितौनी मठिया, छोटाउदेपुर, छोटेलाल, जगदलपुर, जगदीशपुर, जगाधरी, जटनी, जबलपुर, जमशेदपुर, जमालपुर, जमुनानगर, जमुनियाजेठू, जम्मू, जयपुर, जलगाँव, जलहरकुकुरमुड़ा, जाँभौरा, जाट, जांटाबास, जामठी, जालन्धर, जिरीघा, जिरौली, जुरहरा, जूनागढ़, जैकोट, जैनाल, जैसलमेर, जोधपुर, जोराबरडीह, जौरीबुजुर्ग, जौड़िया, जौनपुर, ज्यौलीकोट, ज्वाली, झंझीहट, झाँसड़ी, झाँसी, झालू, झुमरीतिलैया, झुमियाँवाली, झोटाना, टाँडा, टामटिया, टिकारी, टिमरनी, टिहरीगढ़वाल, टीकमगढ़, ठिकहाँ, ठिकहाँभवानीपुर, ठूठीबारी, डाडों, डाबड़ी, डामरखेड़ा, डुबरामण्डी, डुमरपानी, डुमरियाखुर्द, डुमरी, डेहरी, डोम्हाटोला, डोरवाडोल, डोन्डो, डोरावली, ढढोगल, ढरीबा, ढाँगल, ढेढर, ढोनीगढ़, ढौनीगाड़, तरवा, तरौंदा, ताजपुर, तिकोनिया, तिदवारी, तिनसुकिया, तिरको, तिरोड़ा, तिलकपुर, तिलहर, तिसरी, तिहँवारी, तेजपुर, तेरंगा, तेवरा, तोरा, तुंगणि, थाना, थोंरीथम्भ, दरभंगा, दरीबा, दलटौली, दाँता, दाऊदनगर, दामोदरपुरमंठ, दारागंज, दिघरा, दिनारी, दिल्ली, दुन्दपुर, दुर्गापुर, देवखजूरी, देवगढ़, देवनगर, देवबन्द, देवबहार, देवरिया, देवली, देसाईगंज, देहरादून, दोघट, दौंद, दौरावली, धनगाँवा, धनजई, धनबाद, धनौरा, धाणेगाँ, धनौडाखुर्द, धाँमनगाँव, धारवाड़, धौरपुर, ध्यानपुर, नगरियाँव, नदीगढ़, नन्दवाना, नयीचट्टी, नयीबस्ती, नयीबाजार, नयीसराय, नरवन, नरसिंहपुर, नरहन, नरोत्तमपुर, नवनमक्का, नवपाढ़ा, नवरंगपुर, नवाँशहर, नवादा, नशतपुर, नागपुर, नाचनवेल, नाथूखेड़ी, नान्दनी, नारायणपुर, निगौही, निजामपुर, निपनियाँ, निलफामारी, नीमड़ीकलाँ, नूरमहल, नेपानगर, नमिषारण्य, नोनसारी, नौदवली, नौपाड़ा, नौरेजपुर, नौरौजाबाद, नौली, पकरहट, पकरीगुरिया, पगरावदकलाँ, पचगछिया, पचगाँव, पचौरी, पटना, पठ्ठीकल्या, पनवाड़ी, परतैवा, परलीवैजनाथ, परसावाँ, परसीपुरपतौना, परेथ, परेव, पलड़ा, पलसाना, पाँचौर, पाटण, पाड़ीव, पाण्डेगाँव, पाण्डेटोला, पाढ़न, पातलमेरका, पायल, पारा, पालगंज, पाली, पिण्डरावल, पिथौरागढ़, पिपरावगाही, पिपरिया, पिपरीगहरवार, पिपरौआकलाँ, पिपलगाँवदेवी, पिपलानी, पीनना, पीपलरावा, पीपल्याजोधा, पीलीबंगा, पुकारी, पुडुकोट्टई, पुनखारा, पुनासा, पुरहिया, पुलगाँव, पुवायाँ, पूच, पुसौली, पूरेपहलवान, पूरेबेनऊ, पूलीयूर, पेण्डरा, पैंची, पौचानेर, पौलाहा, प्रतापगढ़, प्रह्लादनगर, प्रेमनगर, फखरपुर, फरिहा, फरीदाबाद, फलौला, फरुगी, फैजपुर, फैजाबाद, बंगलौर, बक्सर, बकेवर, बखरी, बगड़िया, बगड़ी, बगही, बगासपुर, बड़गाँव, बडसिंहगी, बढयाचौक, बनकट्टी, बनसेन्द्रा, बनियाखेड़ा, बनियापट्टी, बमलाज, बमकोई, बम्बई, बरखेड़ा, बरदाला, बरन, बराटाकलाँ, बरारीपुरा, बरंधन, बरेली, बरोदियाकलाँ, बरौंधा, बलिया, बहुआ, बहोनमदार-

माझा, बाँगरदा, बाँदा, बाँवकड़, बाँसगाँव, बाँसवाड़ा, बाड़मेर, बामौरकलां, बारडोली, बारसेनबाजार, बारु, बालाघाट, बालीजाम, बासन, बिछवाँ, बिरौली, बिलखी, बिस्वाब्रिज, बिलन्दा, बिहियाँ, बीकानेर, बीजापुर, बीनार, बीबीपुरगढ़, बीरमित्रपुर, बुड्ढीखास, बुदौर, बुरला, बुरहानपुर, बुलढ़ाणा, बुलन्दशहर, बेदौली, बेमेतरा, बेरडी, बेलमण्डई, बेलारी, बैघबाड़ा, बैर, बैरनपुर, बैरसिया, बैरागढ़, बोनगाइ-गाँव, बोरसर, बोस्कोट, बौड़ला, बंगीनवाड़ी, ब्रह्मावली, ब्यावर, भँवरगढ़, भक्तिनगाँव, भटगामा, भट्टपुर, भदपुरा, भदोखरा, भदोही, भरथौली, भवदेवपुर, भवानी-पटना, भाऊगढ़, भाटागाँव, भावनगर, भावसार, भिलाई, भिवानी, भीण्डर, भीमडास, भील्की, भुफ्तपुर, भुवनेश्वर, भुसावल, भुमेंवड़, भेरोखड़ा, भेलरखर, भोकरदन, भोपाल, भोरंगी, मंगावली, मंडारा, मऊगंज, मगरदरी, मगरलेड़, मच्छरगवाँ बाजार, मजखली, मझारपुर, मतफरा, मदनेश्वर स्थान, मद्रास, मधवापुर, मनकापुर, मनासार, मनेन्द्रगढ़, मन्नौद, मरयापुर मरुई, मलणगाँव, मल्लिकोड, मवड़ा, मस्की, मसली, मसौढ़ी, महनार, महाड़ी, महीदपुर बाजार, महुअवा, महुआखेरा, महुतरीबीर्ता, महोली, माँडल, माँड, माण्डवी, मातौल, माधवनगर, मानपुरनगरिया, मान्सरखेड़ी, मामटखेड़ार, मायना, मालेगांवगोंड, मिल्की, मीरगंज, मुगहरपुर, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़ेरा, मुसीविथा, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुरारा, मुल्की, मुल्नापुरगरीबदास, मुस्तफाबाद, मेरठ, मेहौडा, मेमना, मोतीहारी, मोदीनगर, मोदुरू, मोरवी, मोगमा, मोघौल, मौछिया, मौदहचतुर, मृगवास, यमुनानगर, यावतमाल, येवले, रक्मा, रजउपरसपुर, रतनगढ़, रतलाम, रमै, रहावलीउवारी, रांची, राजकोट, राजनन्दन-गाँव, राजाका ताजपुर, राजमहल, राजापुर, राजामऊ, राजा-वाली, रातू, राधाउर, रानीखेत, रानीपुर, रानीबाग, राम-तीर्थ, रामदुर्लभपुर, रामनगर, रामपुर, रायचूर, रायपुर, रायपुरसदन, रायबरेली, राहे, रिंड, रीवाल, रेगड़ा, रेवदार, रोटा, रोशा, रोहट, रोहरू, रोहिणी, लखधीरवास, लखनऊ, लत्ता, ललितपुर, लश्कर, लक्ष्मणगढ़, लाठगाँव, लादीगढ़, लालपुर, लाहौल, लिमाद, लीलापट्टी-वनकटिया, लुधियाना, लेस्लीगंज, लेटवा, लोधनहार, लोल्दोन, लोहा, लोहाघाट, लोहान, लोहारदा, वनाइन, वन्हनी, वरला, वसन्तजलाल, वसन्तसिरपाल, वारसोईघाट, वाराणसी, वारीगांव, वासलीगंज, वासोदा, विजोलिया, विदिशा, विराटनगर, विलखी, विशाखापट्टनम्, विष्णुपुरखुर्त्त, वीणाअन्दोली, वीनागंज, वेमपेट, वेहटा, वैर, वैसाडीह, शंकरनगर, शंकरपुर, शकूरबस्ती, शरफुद्दीनपुर, शरह वरौलिया, शहपुरा, शहरना, शाहपुरा, शिडरशाहपुर, शिमला, शिकौटी, शिरसमणी, शिलांग, शिवपुरकंघाजनगर, शिवरीनारायण, शिवली, शीदपुर, शील, शुजालपुर, शेगांव, श्रीपुरा, श्रीरामपुर, संगरूर, सठियाँव, सतारी, सनतनगर, सनावड़ा, सनावद, सबलपुर, सम्बलपुर, समदड़ी, समाना, सरखों, सरगाँव, सरैयाहाट, सलेमपुर, सहरना, सहदेई बुजुर्ग, सहसोल, सहारनपुर, सहुआपुर, साँकलकुवा, साखूफोर्ट, साखूकोट, सातधार, सायर, सारण, सारडा, सावर, सावरगाँव रोकड़ा, सावरमती, साहेबगंज, सिकौरी, सिमडेगा, सिमरौल, सिराली, सिवनी, सिवनीमालवा, सिंगापुर, सिंघोला, सीका, सीगौन, सीतामऊ, सीसवाली, सीया, सुजानगढ़ी, सुधानी, सुन्दरपुरवा, सुल्तानगंज, सुलह, सूरजपुर, सूलिया, सेजपुरिया, सेतगंगा, सेन्दूरजना, सेन्धवा, सेमल्यानगर, सेरमराल, सेवास, सेसर, सोई, सोउलपुर, सोनरे, सोनापतमण्डी, सोनीपत, सोमनी, सोरखण्डकलां, हजारीबाग, हटा, हडिनवाल, हत्था, हथिया, हथीदह, हनमकुण्डा, हनमसागर, हबीबगंज, हबीबपुर, हयातगंज, हरदा, हरिद्वार, हरिला, हरिहरपुर, हल्द्वानी, हंसरबाजार, हसनपुर, हसुआ, हांफा, हिण्डोरिया, हिसार, हुजाराबाद, हैदराबाद, होन्नावर, होशियारपुर, होसपेट, हिंगणाघाट ।

चित्र-परिचय

महाभारत, अनुशासनपर्वके अन्तिम (१६८) वें अध्यायके अन्तमें कथा आती है कि गङ्गापुत्र पितामह भीष्मका देह-संस्कार हो जानेपर जब पाँचों पाण्डव गङ्गातटपर जाकर उन्हें जलाञ्जलि दे रहे थे और भगवान् श्रीकृष्ण एवं व्यासजी भी वहीं थे, उस समय पुत्रशोकसे व्याकुल भगवती गङ्गाजी जलमेंसे निकलकर विलाप करने लगीं और कहने लगीं कि 'जिस मेरे पुत्रको साक्षात् भगवान् परशुराम भी नहीं हरा सके थे, वह द्रुपदपुत्र शिखण्डीके द्वारा मारा गया ।' इसपर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें समझा रहे हैं कि 'तुम्हारा पुत्र अर्जुनके द्वारा गिराया गया था, शिखण्डीके द्वारा नहीं और वह स्वेच्छासे मृत्युका वरण करके पुनः वसु-शरीरको प्राप्त हुआ है । देवि ! उसके लिये शोक न करो ।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

स्वभाव, जो भुलाया नहीं जा सकता

मनुष्यमें स्वाभाविक ही अपने पदका गौरव होता है। अपनेसे छोटे पदवालोंके साथ नम्रताका व्यवहार करनेमें उसे संकोच होता है, स्वाभिमानमें ठेस पहुँचती है। छोटे पदवालोंके साथ रूखा व्यवहार करने तथा कड़ककर बोलनेमें उसे बड़प्पनका अनुभव होता है।

देशकी स्वतन्त्रताके पहले राजस्थान प्रदेश छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा हुआ था। प्रत्येक राज्यका महाराजा वहाँकी प्रजाका भाग्यविधाता था तथा प्रजा भी महाराजाओंका बड़ा सम्मान करती थी। लगभग ४० वर्ष पूर्व बीकानेर राज्यके प्राइम मिनिस्टर सर मनुभाई मेहता थे। राज्यके सर्वेसर्वा होते हुए भी श्रीमेहताजीका स्वभाव बड़ा ही उदार, विनम्र एवं स्नेहशील था, जैसे पदका गौरव उन्हें छूतक न गया हो। छोटे-से-छोटे कर्मचारीसे भी वे अत्यन्त स्नेहभरे शब्दोंमें बोलते थे। किसीकी भी भूलको वे भूल नहीं मानते थे। उसे वे ऐसे टाल देते थे कि भूल करनेवाला उनकी उदारतापर मुग्ध हो जाता। नीचे उनके जीवनकी दो घटनाएँ दी जा रही हैं—

(१) एक बार असावधानीसे नौकरद्वारा चायमें चीनीकी जगह नमक पड़ गया। नौकरको इसका ज्ञान नहीं हुआ। उसने वह चाय अपने मालिक श्रीमेहताजीको दी। उन्होंने भी वह चाय रोजकी तरह पी ली और अपने काममें लग गये। अवसर पाकर बची हुई चाय उसी नौकरने पी। वह नमकीन चाय पीते ही उसे अपनी भूल मालूम हो गयी। वह घबराने लगा कि पता नहीं उसके मालिक अब उसे नौकरीपर रखेंगे कि नहीं। वह तत्काल अपने मालिकके पास क्षमा-याचना करने गया। वह बहुत ही गिड़गिड़ाकर अपनी भूलके लिये क्षमा माँगने लगा। परंतु श्रीमेहताजी उसकी भूलसे तनिक भी रुष्ट नहीं हुए। वे बड़ी ही नम्रतासे बोले—'भैया! कोई बात नहीं।' अपने मालिकके इतने स्नेह-भरे शब्द सुनकर नौकरकी आँखें छलछला पड़ीं।

(२) बीकानेरमें 'श्रीशार्दूल ब्रह्मचर्याश्रम' नामक संस्थाका वार्षिकोत्सव होनेवाला था। इस संस्थाके मन्त्रीपदका भार बीकानेर राज्यके ही एक अन्य पदाधिकारीपर था, जो श्रीमेहताजीके नीचे ही एक अच्छे पदपर काम कर रहे थे। उन्होंने श्रीमेहताजीसे ब्रह्मचर्याश्रमके वार्षिकोत्सवका अध्यक्षपद ग्रहण करनेके लिये प्रार्थना की। श्रीमेहताजीने बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर लिया। सायंकाल पाँच बजेका समय वार्षिकोत्सवके लिये निश्चित किया गया। मन्त्री महोदयने सोचा कि श्रीमेहताजी पाँच बजे आफिससे उठकर अपने घर जायँगे और चाय पीकर साढ़े पाँच बजेके बाद ही समारोहमें पहुँचेंगे। पाँच बजे आफिस बंद होनेपर मैं सीधा आश्रमपर पहुँच जाऊँगा और मेहताजीसे पहले मैं पहुँचा रहूँगा। जनताको पाँच बजेका समय दिया हुआ है, वह समयसे आ ही जायगी।'

श्रीमेहताजी समयके बड़े पक्के थे। वे ठीक पाँच बजे अपने आफिससे निकले और मोटरपर सवार होकर समारोहके स्थानपर पहुँच गये। मन्त्री महोदय साइकिलसे गये। श्रीमेहताजीने वहाँ पहुँचकर देखा कि न तो मन्त्री महोदय हैं, न जनता और न वहाँ कोई तैयारी है। वे चुपचाप अपने घर लौट गये। थोड़ी देर पश्चात् मन्त्री महोदय वहाँ पहुँचे। उन्हें पता चला कि प्राइम मिनिस्टर महोदय यहाँ आकर लौट गये हैं। मन्त्री महोदयको अपनी भूलपर बड़ी ग्लानि हुई। वे बार-बार कहने लगे—'मुझे श्रीमेहताजीको साढ़े पाँच अथवा छःका समय देना चाहिये था।' मन्त्री महोदय श्रीमेहताजीके नीचे कार्य करते थे। उन्हें बड़ी ही शर्म अनुभव हो रही थी कि कल उनके सम्मुख कैसे उपस्थित होऊँगा। साथ ही कुछ भय भी हो रहा था कि श्रीमेहताजी उन्हें इसके लिये कुछ उलाहना भी देंगे। परंतु अब इस भूलके परिमार्जनका कोई उपाय उनके हाथमें नहीं था।

धीरे-धीरे लोग जुटने लगे। लोगोंमेंसे ही एक सम्भ्रान्त महानुभावद्वारा अध्यक्षका कार्य सम्पन्न करवा लिया गया। दूसरे दिन मन्त्री महोदय अपने कार्यालय गये। उन्होंने साहस बटोरा और श्रीमेहताजीके सम्मुख जाकर बड़े ही विनम्र शब्दोंमें वे उनसे कलवाली भूलके लिये क्षमायाचना करने लगे, परंतु श्रीमेहताजी बीचमें ही विराम देते हुए बोले—'That's all right, that's all right, कोई बात नहीं—कोई बात नहीं।'

ये शब्द सुनकर मन्त्री महोदय गद्गद हो गये। श्रीमेहताजीके बड़प्पनकी अमिट छाप उनके हृदयपर लग

गयी। आज भी वे जब उस घटनाको स्मरण करते हैं, तब भावविभोर हो जाते हैं।

(२)

पापसे कैसे बचा जाय ?

भारतवर्षके प्रसिद्ध रामभक्त एवं मानसके प्रमुख कथा-व्यास श्रीकपीन्द्रजीके साथ श्रीभाईजीका दीर्घकालीन बड़ा आत्मीयताका सम्बन्ध था। दोनों महापुरुषोंका जब मिलन होता था, तब एक दूसरेका एक दूसरेको नमन करना, आदर देना तथा अत्यन्त स्नेहसे गले लगाना देखते ही बनता था। गत बार श्रीनन्दाजीके रेल्वेमन्त्री होनेपर रेल्वेमें हो रही भीषण चोरीको रोकनेके लिये उन्होंने एक कमेटी बनायी। श्रीकपीन्द्रजीको उन्होंने इस कमेटीका उप-प्रधान बनाया।

सन् १९७० के नवम्बर मासके द्वितीय सप्ताहकी बात है। श्रीकपीन्द्रजी महाराज इस अभियानके सिलसिलेमें वाराणसी आये थे। श्रीभाईजी उन दिनों ज्यादा बीमार थे। अतएव वे श्रीभाईजीसे मिलनेके उद्देश्यसे गोरखपुर भी पधारे। श्रीकपीन्द्रजीने सामान आदि स्टेशनपर रखा और श्रीभाईजीसे मिलने अचानक गीतावाटिका आ पहुँचे। श्रीभाईजीने चारपाईसे उतरकर बड़े ही आदर-स्नेहसे उनका स्वागत किया और उनके साथ नीचे फर्शपर कम्बलपर ही बैठ गये। कुशल-मङ्गल आदि जाननेपर श्रीकपीन्द्रजीने बतलाया—'आज ही एक डीजल इंजिनका उद्घाटन करने मुगलसराय जा रहा हूँ। वहाँके मालगोदाममें भीषण चोरी होती है। उसका भी निरीक्षण करना है। वहाँ चोरीके प्रति लोगोंको सतर्क-सावधान करनेके लिये एक मीटिंगमें भाषण भी देना होगा।' इतना कहकर उन्होंने श्रीभाईजीसे पूछा—'भाईजी! यह चोरी कैसे रुके? इसके लिये मीटिंगमें क्या उपाय बतलाया जाय?' श्रीभाईजीने कहा—"जब मनुष्यको एकान्तमें पापसे घृणा होती है, तब वह पापसे बच सकता है। अर्जुनके पास रात्रिमें एकान्तमें उर्वशी पहुँचती है और प्रणयकी भिक्षा माँगती है। पर उस अवस्थामें भी अर्जुनका मन विचलित नहीं होता, वे उर्वशीको 'माँ' कहकर उसका आदर करते हैं। उर्वशी स्पष्ट शब्दोंमें प्रणयकी भीख माँगती है, पर अर्जुन सर्वथा अविचलित रहते हैं अपने धर्मपर। उर्वशीको इसमें अपना अपमान अनुभव होता है। वह क्रुद्ध होकर अर्जुनको शाप देती है; पर इसपर भी अर्जुन टस-से-मस नहीं होते। इसी प्रकार जब एकान्तमें मनुष्यको पापसे घृणा होगी, उससे वह बचना चाहेगा, तभी चोरी रुक सकेगी। कानूनके भयसे चोरी नहीं रुक सकती। कानूनसे बचनेके नये-नये तरीके निकाल लिये जाते हैं और मनुष्य खूब चोरी करता है। आज यही हो रहा है; इसीसे सब ओर चोरीका बोलबाला है।'

श्रीकपीन्द्रजी श्रीभाईजीकी यह बात बड़े मनोयोगसे सुन रहे थे। उन्हें लग रहा था—'श्रीभाईजी अपने जीवनभरका अनुभव इन शब्दोंमें उनके सम्मुख रख रहे हैं।' उन्होंने कहा—'भाईजी! आपने पापके मूलको पहचाना है। मूलको सुधारनेसे ही पाप रुक सकता है। अन्यथा पापको रोकनेकी बातें होती रहेंगी और पाप भी बराबर होते रहेंगे, जैसा आज हो रहा है।'

(३)

कर्तव्यका पालन

लगभग पाँच-छः वर्ष पहलेकी बात है। अमरावतीमें मेरे ससुरालके रिश्तेदारके यहाँ हमलोग शादीमें गये थे। शादी होनेके पश्चात् हमें अपने देहातको वापस लौटना था। टैक्सी भाड़ेपर की गयी। नौकरने सब सामान टैक्सीमें रख दिया और हम विदा हुए। देहात पहुँचनेपर टैक्सीमेंसे सब सामान निकाल लिया गया, परंतु नौकरकी असावधानीसे एक सूटकेस टैक्सीमें रह गया।

थोड़ी देर पश्चात् सामान सँभाला गया तो पता चला कि एक सूटकेश नहीं मिल रहा है। इस बीच टैक्सीवाला गाँवमेंसे दूसरे यात्री लेकर वापस चला गया। अमरावती जाकर टैक्सीड्राइवरने देखा कि टैक्सीकी डिक्कीमें एक सूटकेस पड़ा है। उसने देहातसे आये हुए यात्रियोंसे कहा—'भाई! यह सूटकेस जिसका है, वह ले ले।' किसी भी यात्रीने उस सूटकेसको अपना नहीं बतलाया। टैक्सीड्राइवर विचारमें पड़ गया। उसके ख्यालमें आया कि 'यह सूटकेस उनका होगा, जिन्हें मैं देहात पहुँचाकर आया हूँ।' यह विचार आते ही वह चिन्तित हो गया कि किस प्रकार यह सूटकेस उनके पास पहुँचाया जाय। उसे एक उपाय सूझा—'जिस घरसे मैंने उन यात्रियोंको बैठाया था, वहाँ चलूँ।

वह शादीवालोंके घर पहुँचा । उसने टैक्सीसे सूटकेस उठाकर उनके सामने रख दिया और कहा—'कल जो लोग देहात गये हैं, वे आपके रिश्तेदार हैं। उनका यह सूटकेस मेरी गाड़ीमें रह गया है। सूटकेस कृपया उनतक पहुँचा दीजियेगा। मैं स्वयं देहात जाकर दे आता, परंतु ऐसा करनेमें मुझ गरीबका एक दिन व्यर्थ जायगा तथा खर्चा भी बहुत पड़ जायगा।'

उन लोगोंने सूटकेस पहचान लिया और रख लिया। वे ड्राइवरकी ईमानदारी देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उसे कुछ रुपये देने लगे। परंतु बहुत कहनेपर भी ड्राइवरने रुपये स्वीकार नहीं किये। उसने यही कहा—'सूटकेस आपलोगोंतक पहुँचाकर मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया है।'

सूटकेस न मिलनेसे हमारे घरके सभी व्यक्ति बड़े चिन्तित एवं दुःखी थे। कारण उसमें आभूषण एवं कीमती कपड़े थे। हमने तत्काल नौकरको वापस अमरावती भेजा कि शायद सूटकेस वहाँ छूट गया हो। नौकर अमरावती आया, तब उसे टैक्सीड्राइवरद्वारा सूटकेस पहुँचानेकी बात ज्ञात हुई। नौकर सूटकेस लेकर घर लौटा। सूटकेस प्राप्तकर सभी प्रसन्न हो गये। सबके अन्तर्हृदयसे टैक्सीड्राइवरके प्रति कृतज्ञताके शब्द निकल रहे थे।

—कु० सुषमा सी० हेडा

(४)

आदर्श भक्तिभाव

हरिद्वारसे बदरीनारायणतक अब सड़क बन जानेसे वहाँ जानेवाले यात्रियोंकी संख्या भी बढ़ गयी है। ऋषिकेशसे वहाँतक बस जानेके कारण अनेक यात्री उसीसे यात्रा करते हैं। साधन-सम्पन्न यात्री अपने वाहनोंमें भी जाते हैं। इनमेंसे कितने ही तो तीर्थयात्राके साथ-साथ सैर-सपाटेका आनन्द लेनेके लिये भी जाते हैं।

एक दिन ऐसा ही एक कुटुम्ब बदरीनारायण जाकर अपनी गाड़ीसे लौट रहा था। हनुमानचट्टीके पास पहले विश्रामस्थलके समीप सड़कके किनारे एक फटेहाल वृद्ध यात्री बैठा-बैठा रो रहा था। ड्राइवरके पास बैठे हुए गृहपतिका ध्यान उस वृद्धकी ओर गया और उन्होंने उसे गाड़ी रोकनेको कहा। रोनेवाला यात्री पैदल यात्रा करनेके कारण थककर चूर-चूर हो गया है—यह समझकर गृहपतिने कहा—'भैया! बहुत थक गये जान पड़ते हो। आओ, हरिद्वार चलना हो तो गाड़ीमें बैठ जाओ।'

वृद्ध यात्रीने हाथ जोड़कर आभार माना और कहा—'बाबूजी! आप जाइये। मैं तो पैदल ही जितना चल सकूँगा, चलूँगा।'

गृहपतिने फिर आग्रह किया और कहा—'चलनेकी तो शक्ति नहीं रह गयी है; आइये-आइये, गाड़ीमें बैठ जाइये। आपको जितनी जगह चाहिये, उतनी जगह गाड़ीमें है।'

यात्रीने उत्तर दिया—'थककर अभी इतना चूर-चूर नहीं हुआ हूँ। भगवान् बड़े कृपालु हैं—'पंगुं लङ्घयते गिरिम्'।'

'तो आपको क्या तकलीफ है? भोजन चाहिये? कम्बल चाहिये?'

'नहीं जी, मेरे पास जो कम्बल है, वह बहुत है। खानेको भी भगवान्‌की कृपासे मिल ही जाता है।'

'तो आपको कैसी तकलीफ है? पैसा चाहिये तो पैसा दें।'

'दया है, बाबूजी, अभी तो मुझे किसी भी चीजकी जरूरत नहीं है। ऊपरवाला सभी तरहकी सँभाल कर रहा है।'

उसकी इस निःस्पृहताको देखकर सभी आश्चर्यचकित थे। साथ-ही-साथ उसका रुदन एक समस्या-सा मालूम पड़ने लगा।

'अभी तो आप रो रहे थे, आपकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे थे। आपको जो कष्ट हो, उसे बेखटके कहिये। आपका कोई संगी-साथी ....?'

'नहीं बाबूजी, मुझे ऐसा कोई दुःख नहीं है। मैं तो बदरीनाथका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया हूँ। मैं तो पीछे घूमकर कितनी ही देरतक इस नारायण पर्वतको देखता रहता हूँ। इसके दर्शन मुझे इस जिंदगीमें क्या फिर कभी होने हैं? कभी कोई पुण्य किया होगा, जिसके प्रतापसे बदरीनारायणके दर्शन हो गये। इस यात्राको मैं पहली समझूँ या आखिरी? इस जन्ममें तो पुनः यात्रा क्या होगी? जय बदरीविशाल!' यों कहते-कहते वह गद्गद हो गया; पीछे घूमकर उसने नारायण पर्वतको प्रणाम किया तथा मौन हो गया।

गृहपति अधिक प्रतीक्षा न कर सके और उनका संकेत पाकर कार हरिद्वारकी ओर चल पड़ी। किंतु इस अकिंचन होते हुए भी निःस्पृह तथा अन्तरमें अनन्य भक्तिभाव रखनेवाले यात्रीके हृदयकी भावनाने कारमें बैठे हुए सभी यात्रियोंको विचारमग्न बना दिया। गृहपतिने अपने साथियोंसे कहा—'देखा, कैसी भावना है इसके अन्तरमें। हमलोग अपनी गाड़ीमें सभी आवश्यक साधनों, दवा और पैसोंको

लेकर निकले हैं और उस यात्रीके पास पहननेका पूरा कपड़ा भी नहीं है; फटा हुआ-सा कम्बल, टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी और पुरानी झोलीमात्र है! फिर भी बदरीनाथजीके प्रति, नारायण पर्वतके प्रति उसके हृदयमें जैसा भक्तिभाव है, उसका शतांश भी क्या हममें आ सकता है?'

पासमें बैठी हुई गृहस्वामिनी तुरंत बोल पड़ी—'हजारवाँ हिस्सा भी नहीं आ सकता। वह तो साक्षात् सुदामा है, सुदामा।'

सच ही वह आधुनिक सुदामा था। भौतिक सम्पत्तिमें अकिंचन, किंतु भक्तिभावमें सबसे समृद्ध।

'अखण्ड आनन्द' —श्रीदेवी शास्त्री

(५)

जब एक जर्मनकुमारीने गीता पढ़ी

हिटलर अपनी अन्तारष्ट्रिय समस्याओंको सुलझानेके लिये विधिशास्त्रके पारखी प्रोफेसर जोजफवर्बर नामक विद्वान्से सम्मति लेता था। वह अध्यापक अपने विषयमें यशस्वी, सूझ-बूझका पण्डित तथा व्यवहारकुशल था—सन् १९५० में जब भारत स्वतन्त्र हो चुका था, तब उसने भारतकी यात्रा की। स्वर्गीय पं० श्रीभगवद्दत्तजीसे दिल्लीमें मिला। पण्डितजी भारतीय संस्कृतिके वेत्ता, लेखक और सुप्रसिद्ध वक्ता थे। उनकी कृतियाँ देश और विदेशोंमें प्रख्यात थीं। घरपर अतिथिके स्वागतके बाद श्रीभगवद्दत्तजी-ने प्रोफेसर बर्बरसे प्रश्न किया—'प्रोफेसर! आपका भारतमें आना तथा मेरे-जैसे सामान्य व्यक्तिके घरपर आकर मिलना मुझे विस्मित कर रहा है। क्या आप इस असाधारण रुचिका कारण बतानेका कष्ट करेंगे?'

डॉ० बर्बरने उत्तरमें कहा—"पण्डितजी! जब १९३१ में बर्लिनपर बमवर्षा हो रही थी, तब मैंने जमीनके अंदर एक रक्षाघरमें अपनेको छिपा रखा था। इतनेमें एक बम रक्षा-घरके कोनेपर पड़ा। बमवर्षक विमान लौट गये। सायरन् जोरोंसे बज रहा था। रक्षाघरके अंदर ठहरे हुए लोग पनाहके लिये भाग-दौड़ कर रहे थे। जहाँ बम गिरा था, उसके पास ही एक कुमारी देरसे खड़ी हुई थी। वह उसी स्थानपर पत्थरकी तरह गड़ी रही। मैं हैरान रह गया। भागकर मैं उसके पास गया और उससे पूछने लगा—'कुमारी! क्या तुम्हें मौतसे डर नहीं लग रहा है? देखो, लोग किस तरह मौतसे डरकर आत्मरक्षाके लिये भाग-दौड़ कर रहे हैं और तुम यहाँ पत्थरकी तरह निश्चेष्ट खड़ी हो।"

"इसे सुनकर उस कुमारीने मुस्कराकर कहा—'मुझे तो किसी तरहका डर नहीं लगता। मुझे किसी तरहकी मौतका डर नहीं।' तब मैंने उत्सुकतासे पूछा—'यह कैसे! सारी जनता क्यों काँप रही है?' कुमारीने शान्तमुद्रामें जवाब दिया—"आदरणीय! मैंने भारतकी एक पुस्तक पढ़ी है, जिसका नाम 'गीता' है। उसने मेरे लिये मौतका रहस्य खोल दिया है। उसमें लिखा है कि 'जो पैदा हुआ है, वह अवश्य मरेगा और जो मरेगा, वह अवश्य पैदा होगा।' तब कुदरतकी ऐसी अवश्यम्भावी स्थितिपर हमें किसलिये शोक करना है?' मैंने उससे फिर पूछा—'तुम्हारी बात आश्चर्यकारी लग रही है कि तुमने पुस्तकके लिखे हुएको किस प्रकार सच मान लिया।' तब उसका उत्तर था—'मेरा यहाँ निर्भय होकर खड़ा रहना इसका प्रमाण है कि भय नामक कोई वस्तु नहीं है। वह तो अपनी कमजोरी ही है। यही नहीं, उस पुस्तकमें यह भी लिखा है कि 'इस शरीरधारी आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती। जैसे इन्सान पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही वह पुराने चोलेको छोड़कर नया चोला धारण कर लेता है। तब शोक किस बातका?'

"कुमारीकी निर्भय अवस्थाने मुझपर गहरा प्रभाव छोड़ा। मैंने आभार प्रदर्शित किया। मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। केवल पुस्तकके पढ़नेसे ही विचारोंमें इतनी भारी क्रान्तिका पैदा होना मेरे आश्चर्यका विषय बना रहा। मैंने भी गीता पढ़ी। उसके क्रान्तिकारी विचारोंने मुझे भी पकड़ लिया। मैं अजेय भारतका पुजारी बन गया। तबसे मैं भारत-दर्शनके लिये आपके देशमें आता हूँ। इसके स्थानोंका दर्शन करता हूँ। गीताके पारखियोंसे मिलकर अपनेको पवित्र समझता हूँ। कृष्ण और अर्जुनके रोमहर्षण संवादको मूलभाषामें सुनकर उस कुमारीका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ, जिसने मुझे इस ग्रन्थरत्नका परिचय दिया और मुझे अमृतत्वके रास्तेपर चलाया।"

पण्डित भगवद्दत्तजीने इस संवादको जब सुना, तब सहसा उनके मुँहसे 'जय भारत'का नारा निकला। आर्यसमाजी होते हुए भी उन्होंने झुककर अपने हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार किया। भारतके इसी अमर विचारने चार्ल्स विल्किन्स, थ्यूरो, एमर्सन, कारलाइल, हक्सले, तिलक, हरदयाल तथा गांधीको प्रभावित किया, जिन्होंने सत्यकी ज्योतिको उजागर रखा।

—डॉ० सीताराम सहगल

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ४५

[साधारण अङ्क-संख्या ३ से १२ तककी विषय-सूची । विशेषाङ्क तथा दूसरे अङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है ।]

सं० २०२७-२८ वि०

सन् १९७१ ई०

की

निबन्ध, कविता, कहानी

तथा

चित्र-सूची

{ आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री }
* [प्रकाशक—मोतीलाल जालान]

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य रु०१०.०० (दस रुपये)
विदेशोंके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग)

साधारण अङ्क Free of charge

निबन्ध-सूची

पद्य-सूची

संकलित पद्य-सूची

संकलित गद्य

कहानी-सूची

चित्र-सूची

(रंगीन)

(रेखा-चित्र)

नया प्रकाशन—

(लगभग एक मासमें तैयार होनेकी सम्भावना)

श्रीमद्भागवत (अंग्रेजी अनुवाद) दो खण्डोंमें सजिल्द

(An English translation, with Original Sanskrit text of the Bhagavata Mahapurāṇa with the Mahatmya in 2 Volumes.)

दोनों खण्डोंमें कुल १७७१ पृष्ठ तथा ४ तिरंगे चित्र हैं । इसमें श्रीमद्भागवतका माहात्म्य अलगसे दिया हुआ है एवं दोनों खण्ड सजिल्द हैं। इससे पहले हमारे यहाँ श्रीमद्भागवत अंग्रेजी-अनुवादसहित पुस्तकाकार (Book Size) में सुलभ नहीं था।

मूल्य डाक-व्ययसहित एक खण्डका	...	रु० १२.०० मात्र	भारतमें
,, ,, एक साथ दोनों खण्डोंका	...	२२.७५ ,,	,,
,, ,, ,,	(By Sea-Mail)	२७.०० ,,	विदेशमें

व्यवस्थापक—गीताप्रेस (पुस्तक-विभाग) गोरखपुर

सरकारसे गोमांस-उत्पादनार्थ कसाईखाना न खोलनेकी प्रार्थना

समाचारपत्रोंमें प्रकाशित सूचनासे ज्ञात हुआ है कि हमारी सरकारने मैसूर और तमिलनाडु राज्योंकी सीमाके निकट वाइनाड (Wynaad) स्थानपर एक करोड़की लागतसे गोमांसको सुरक्षित रखनेका एक कारखाना खोलनेका निश्चय किया है।' 'केरल ऐग्रो इंडस्ट्रीज कारपोरेशन'के चेयरमैन श्रीके०सी० वामदेवन्‌ने बताया है कि यह कारखाना अमेरिकी सरकारकी सहायतासे कारपोरेशनद्वारा स्थापित किया जायगा । श्रीवामदेवन्‌ने यह भी बताया है कि एफ० ए० ओ० के विशेषज्ञोंके एक दलने कई राज्योंका दौरा करनेके बाद केरल और गोआको गोमांस उत्पन्न करनेवाले दो कारखाने खोलनेके लिये चुना है। गोमांसके निर्यातपर जो अभी रोक लगी हुई है, इसे भी सरकार उठा लेगी।

इसके अतिरिक्त संविधानके अनुच्छेद ४८के अनुसार गोहत्यापर राज्यद्वारा प्रतिबन्ध लगाये जानेके निर्देशको पूर्णतया मान्य करने और संसद्‌में केन्द्रीय सरकारद्वारा तत्सम्बन्धी घोषणा किये जाते रहनेके बावजूद अनेक राज्योंमें गोहत्या जारी है। राज्यसभामें केन्द्रीय उड्डयन-मन्त्रीने यह भी स्वीकार किया है कि 'भारतीय विमान-सेवामें अन्ताराष्ट्रीय उड्डयनके समय यात्रियोंको गोमांस दिया जाता है।'

ये तथा अन्य ऐसी योजनाएँ हम भारतवासियोंके लिये कलङ्करूप हैं। हम भारतवासी सदैव ही गौको माताके रूपमें पूजते आये हैं। गौके प्रति हमारे सभीके मनमें बड़ी पवित्र ऊँची भावना है। गोवंशके प्रति भारतीय जनताकी अनन्य धार्मिक श्रद्धा है। साथ-ही-साथ देशकी अर्थव्यवस्थामें भी गौसे प्राप्त दूध और गोबरका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

हमारी सरकारसे विनम्र प्रार्थना है कि वह इस प्रकारकी मर्मघातक, धर्मघातक एवं राष्ट्रघातक नीति न अपनाये। यह देशकी धार्मिक जनतापर सीधा प्रहार है। सभी दृष्टियोंसे इससे देशका भयंकर अहित है। सरकारको चाहिये कि पूरे देशमें गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाये एवं गोमांसके कारखाने खोलनेकी योजनाको अविलम्ब बंद कर दे। हम सभी भारतवासियोंका कर्तव्य है कि सरकारकी इस संस्कृति-विरोधी ही नहीं, बल्कि अहिंसा-विरोधी नीतिका तीव्र विरोध करें। देशमें सर्वत्र इस योजनाके विरोधमें सभाओंके द्वारा प्रस्ताव पारित करके उसकी प्रतिलिपियाँ राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एवं संसद्‌के अध्यक्षके पास भेजनी चाहिये। यदि इन अमानुषी कृत्योंका विरोध न होगा तो परिणाम बड़ा अमङ्गलकारी होगा। भगवान् सबको सद्‌बुद्धि दें।

—चिम्मनलाल गोस्वामी
सम्पादक "कल्याण"

'कल्याण'के कृपालु हितैषियों, ग्राहकों और पाठकोंसे नम्र-निवेदन

(१) इस अङ्कमें भगवत्कृपासे 'कल्याण'का ४५वाँ वर्ष पूरा हो गया है। गत मार्च मासमें हमारे परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके परलोक-गमनसे हम सर्वथा असहाय हो गये थे और सोच नहीं पा रहे थे कि 'कल्याण' किस प्रकार चल पायेगा; परंतु भगवान्‌की अहैतुकी इच्छा, प्रेरणा एवं शक्तिसे आरम्भ हुआ 'कल्याण' उनकी इच्छा एवं कृपासे निरन्तर विकसित होता रहा है और आशा है, भविष्यमें भी इसी प्रकार विकसित होता रहेगा। इन नौ महीनोंमें तो उसे उस कृपाने ही सँभाला है। श्रीभाईजी भी अपरोक्षरूपसे हमें सँभाले हुए हैं ही। गत ९ अङ्क कैसे निकले हैं, यह तो सहृदय पाठक-पाठिकाएँ ही जानते हैं। 'जेहि आदरे, लोक-बेदहूँ आदरियत'—इस सत्यका अनुभव हमने इन ४५ वर्षोंमें भलीप्रकार किया है और विशेषकर इन नौ महीनोंमें आरम्भसे ही देशके सभी प्रमुख आचार्यों, महात्माओं, संतों, विद्वानों, विचारकों, भक्तोंने 'कल्याण'को अपना माना है तथा अपने आशीर्वादद्वारा, सत्-परामर्शद्वारा एवं रचनाओंद्वारा 'कल्याण'को परम उपादेय एवं समुन्नत करनेका प्रयत्न किया है तथा इसके प्रचार-प्रसारमें भी अकथनीय सहयोग दिया है। हम उन सभी गुरुजनों, प्रेमियों, हितैषियों, स्वजनोंके ज्ञात-अज्ञात उपकारों एवं आत्मीयताके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि भविष्यमें भी हमें सबका सहज आशीर्वाद एवं सहयोग इसी प्रकार प्राप्त होता रहे।

(२) आगामी विशेषाङ्क 'श्रीरामाङ्क'में भगवान् श्रीरामसम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक एवं रुचिकर सामग्री रहेगी। अङ्कका कार्य जिस गतिसे चल रहा है, उसे देखते हुए आशा है कि जनवरीके अन्तिम सप्ताहमें या फरवरीके प्रथम सप्ताहमें अङ्क तैयार हो जायगा। ग्राहक महानुभाव उस अवधितक कृपया धैर्य रक्खें; पत्र-व्यवहार न करें तथा इस विलम्बके लिये अपने शीलकी ओर देखकर हमें क्षमा करें।

(३) इस वर्ष सभी खर्च बहुत बढ़ गये हैं, तब भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य १०रु० ही रखा गया है। ग्राहकोंको शीघ्र अपना वार्षिक शुल्क भेज देना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपया भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। रुपये व्यवस्थापक 'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये। जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े। इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। वैसे सजिल्द अङ्कका मूल्य ११.५० है।

—सम्पादक

Kalyāṇa-Kalpataru or "The Bliss"

(An English monthly devoted to pure Religion and Spirituality)

Side by side with the Hindi "Kalyan", the Gita Press has been publishing for over three decades past an English monthly on the pattern of the "Kalyan" for the benefit of the English-knowing public. It provides excellent reading matter discussing topics like Devotion, God-Love and spiritual wisdom and covering six hundred pages annually on an average with more than a dozen coloured illustrations at a cheap rate of Rupees five per annum. Like its prototype, the "Kalyan" publishes an annual Special Number dealing with some particular topic at the end of an year. The periodical, which had to be suspended for over a year due to the sad demise of its Controlling Editor, Sri Hanumanprasad Poddar, is now resuming publication and its readers are hereby requested to renew their subscription for the year 1972. Prospective subscribers are also requested to send their subscription at an early date.

—The Manager, 'Kalyāna-Kalpataru', Gorakhpur